श्रीतपोनिधि, विश्ववंद्य, विद्वाच्छिरोमणि, परमपूज्य,

श्रीआचार्य कुंथुसागरजी महाराज.

आद्य वक्तव्य ।

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने ।
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ॥
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुता स्पृहा ।
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥

—गुणभद्र

गृहस्थोंके मुख्य कर्तव्य इज्या व दत्ति है । दोनों कार्योंके लिए गुरु प्रधान आधार है । जिस पंचमकालमें साक्षात् तीर्थंकर व इतर केवलियोंका एवं ऋद्धिधारी तपस्वियोंका अभाव है, एवं दिव्यज्ञानी मुनियोंके अभावके साथ शास्त्रोंके अर्थको अनर्थ करने वाले भोले लोगोंको भडकानेवालोंकी भी अधिकता है, इस विकट परिस्थितिमें पूज्यपाद जगद्वंद्य शांतिसागर महाराज सदृश महा-पुरुषोंका उदय होना सचमुचमें भाग्यसूचक है । महर्षिके प्रसाद से आज आसेतु हिमाचल [दक्षिणसे लेकर उत्तर तक] धर्म-प्रवाहका संचार हो रहा है । आजके युगमें आचार्य महाराज अलौकिक महापुरुष हैं । जगद्वंद्य हैं । संसारके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंको तारनेके लिए अकारणबंधु हैं । आचार्य महाराजके दिव्य विहारसे ही आज धर्मकी प्राचीन संस्कृति यत्रतत्र दृष्टि-गोचर होरही है । आपके हृदयकी गंभीरता, अचलधीरता व शांतिप्रियताको देखते हुए सचमुचमें आपके नामका सार्थक्य समझमें आता है । जिन्होंने भक्तिपूर्वक आपका एक दफे दर्शन

किया हो उनको आपकी महत्ताका परिज्ञान हुए विना नहीं रह सकता है। एक दफे आपके सामने कोई क्रूरहृदयी शत्रु भी क्यों न आवें; आपकी शांतमुद्राको देखकर वह द्रवित हो जाता है। इतना ही क्यों बडेसे बडे क्रूर मृग, विषधर आदि भी शांत हो जाते हैं। आपका माहात्म्य इसीसे स्पष्ट है कि कई दफे प्राणांतक उपसर्ग आनेपर भी उनसे महाराजकी सिंहवृत्तिमें कोई विराधना नहीं हो सकी। ऐसे प्रातःस्मरणीय साधुवोंके दर्शन, स्तवन व वैयावृत्यके लिए ही नहीं नामोच्चरण करनेके लिए भी पूर्वोपार्जित पुण्यकी आवश्यकता है। यह सर्वसाधारणके लिए सुगम नहीं है।

महर्षि श्री आचार्य कुंथुसागर महाराजने पूर्वभवमें भी विशिष्ट तपश्चर्या की होगी जिससे कि उन्हे महर्षि शांतिसागर महाराज सदृश गुरुवोंकी प्राप्ति हुई। आत्मसंयमका फल व्यर्थ नहीं जाया करता है। आपने श्री परमपूज्य आचार्यश्रीसे दीक्षित होकर अलौकिक धर्मप्रभावना की है व आत्मकल्याण किया है, अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथोंकी रचनाकर जनताका कल्याण किया है। आपके ही द्वारा विरचित यह मुनिधर्मप्रदीप ग्रंथ है।

ग्रंथकर्ताका परिचय.

महर्षि कुंथुसागरजीने इस ग्रंथकी रचना की है। आप एक परम वीतरागी, प्रतिभाशाली, विद्वान् मुनिराज हैं।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्वल किया था।

कर्नाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत बेलगांव जिलेमें ऐनापुर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यंत शांतस्वभाव वाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थी। इसलिए स्वरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थी। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साह से देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्य को वे प्रधान कार्य समझते थे। उनके हृदयमें आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी। श्रीमती सौ. सरस्वतीने सं. २४२० में एक पुत्र रत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुक्लपक्षकी द्वितीयाको हुआ इसलिए शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलावोंसे वृद्धिंगत होने लगा। मातापितावोंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्मसे ही आगमोक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया, जातकर्म संस्कार होनेके बाद शुभ मुहूर्तमें नामकरण संस्कार किया गया जिसमें इस पुत्रका नाम रामचंद्र रखा गया। बादमें चौल-कर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे संस्कृत कर सद्विद्याका अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदय में बाल्यकालसे ही विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे जिसे देखकर लोग साश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचंद्रको बाल्यावस्थामें ही साधु संयमियोंके दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमें आते तो यह बालक दौडकर उनकी वंदनाके लिए पहुंचता था। बाल्यकाल से ही हृदयमें धर्ममें अभिरुचि थी। सदा अपने सह-धर्मियोंके साथमें तत्वचर्चा करनेमें ही इसका समय बीतता था।

इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावोंने रामचंद्रको विवाह करनेका विचार प्रगट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहकेलिए निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह कर लेना चाहता हूं। मातापितावोंने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हे लौकिक विवाह भी करके हम लोगोंकी आंखोंको तृप्त करना चाहिए। मातापितावोंकी आज्ञोल्लंघन भयसे इच्छा न होते हुए भी रामचंद्रने विवाहकी स्वीकृति दी। मातापितावोंने विवाह किया। रामचंद्रको अनुभव होता था कि मैं विवाह कर वडे बंधनमें पड गया हूं।

विशेष विषय यह है कि बाल्यकालके संस्कारोंसे सुदृढ होनेसे कारण यौवनावस्थामें भी रामचंद्रको कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्यायका था। बाकी व्यसन तो उनसे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पचीस वर्षतक रामचंद्रने किसी तरह घरमें वास किया परंतु बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन्! मैं इस गृहबंधनसे कब छुटूं, जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब आवेगा जब कि सर्व संगपरित्याग कर मैं स्वपर-कल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत संपत्ति थी। परंतु उनको कोई संतान नहीं था। वे रामचंद्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही ले लो। मेरे यहांके

सब कारोभार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हे दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी, परंतु मन मनमें यह विचार किया करता था कि मैं अपना भी घरदार छोंडना चाहता हूं। इनकी संपत्तिको लेकर मैं क्या करूं। रामचंद्रकी इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दुःख होता था। परंतु रामचंद्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही कर लिया तो उनके श्वसुरको बहुत अधिक दुःख हुआ।

दैवात् इस बीचमें मातापितावोंका स्वर्गवास हुआ। विकराळ कालकी कृपासे एक भाई बहिनने भी विदाई ली। अब रामचंद्र का चित्त और भी उदास हुआ। उसका बंधन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतनेमें भाग्योदयसे ऐनापुरमें प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ। वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचंद्रके चित्तमें संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई। प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्य चरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेळगुळ महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारिजीने वहां जानेकी इच्छा की। श्रवणबेळगुळ जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एवं श्रवण-

बेलगुलमें आचार्य शांतिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान, अध्ययनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्रमें आपने वृद्धि की व आचार्य चरणमें ही रहने लगे।

आपके दीक्षित होनेके बाद आपकी धर्मपत्नीने अपने जीवन को गृहस्थाश्रममें ही धर्ममय व्यतीत किया।

चार वर्षबाद आचार्यपादका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड) में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलता को देखकर उन्हे ऐल्लक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाडपर एक खास बात यह हुई कि संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचंद घासीलालजी आचार्यवंदनाके लिये आये, और महाराजके चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजीके लिये संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघसहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरोमणिजीकी विनंतिको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभमुहूर्तमें संघने तीर्थराजकी वंदनाके लिये प्रस्थान किया ऐल्लक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्री तीर्थराजकी वंदनाके लिये विहार किया। सम्मेदशिखरपर संघके पहुंचनेके बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषद्के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगम तीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिए ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुवोंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो बाद मुनिराज सुधर्मसागरजीके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, विद्वान् व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस ग्रंथके कर्ता श्री ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी उनसे व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करनेके लिए प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञानमें पहिलेसे अभिरुचि, स्वाभाविकबुद्धि तेज, सतत अध्ययनमें लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान् संयमी विद्यागुरुवोंका समागम, फिर कहना ही क्या ? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीचमें सोनागिर सिद्धक्षेत्रमें आपको श्री आचार्य महाराजने दिगंबर दीक्षा दी उस समय आपको मुनि **कुंथुसागरके** नामसे अलंकृत किया। आपके चरित्रमें वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ गया। ललितपुर चातुर्माससे लेकर ईडरके चातुर्मासपर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जेके विद्वान् बन गए हैं यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसीसे स्पष्ट है कि अब आप संस्कृतमें ग्रंथका भी निर्माण करने लग गए हैं। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बडी २ उपाधियोंसे विभूषित विद्वान्को हम आपसे तुलना नहीं

कर सकते । क्यों कि आपमें केवल ज्ञान ही नहीं है अपितु चारित्र जो कि ज्ञानका फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर आपमें विद्यमान है इसलिए आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मल ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए हैं । आपकी जिस प्रकार रचनाकलामें विशेष गति है, उसी प्रकार वक्तृत्वकलामें भी आपको पूर्ण अधिकार है। श्रोताओंके हृदयको आकर्षण करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्योंको संसारसे तिरस्कार विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है । आपके गुण, संयम आदियोंको देखनेपर वह कहे हुए विना नहीं रह सकते कि आचार्य शांतिसागर महाराजने आपका नाम कुंथुसागर बहुत सोच समझकर रखा है ।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐलक अवस्थामें अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्मप्रभावनाके कार्य किए हैं । संस्कारोंके प्रचार के लिए सतत उद्योग किया । करीब २ तीन लाख व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत किया है । एवं लाखों लोगोंके हृदयमें मद्य, मांस, मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया । हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यग्मार्गमें प्रवृत्ति कराया । मुनि अवस्थामें उत्तर प्रांतके अनेक स्थानोंमें विहार कर धर्मकी जागृति की । गुजरात प्रांत जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे बहुत ही पीछे पडा था उस प्रांतमें छोटेसे छोटे गांवमें विहार कर लोगोंको धर्ममें स्थिर किया । गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि " साधु हो तो ऐसे ही हों " । बडे २ राजा महाराजाओंपर भी आपके उपदेश का गहरा प्रभाव पडता है ।

राजसन्मान

पूज्यश्रीके दिव्यविहारसे लाखों प्राणियोंका उद्धार हो रहा है। और दिगंबर साधुवोंके आदर्श वृत्तिसे प्रत्येक स्थानके लोग प्रभावित होते हैं। इतनाही क्यों गुजरात प्रांतके अनेक छोटे बडे संस्थानोंके अधिपति आचार्यश्रीके परमभक्त हैं। सदा आपके दर्शनोंके लिए उत्सुक रहते हैं।

सुदासना, टींबा, अलुवा, माणिकपुरा, मोहनपुरा, बडासन, पेथापुर, ओरान देलवाडा आदि छोटे बडे संस्थानोंके अधिपति आपके परमभक्त हैं। गत दिनोंमें जब आपके संघका पदार्पण बडौदा राजधानीमें हुआ उस समय राजकीय लवाजमेके साथ बहुत ही वैभवसे आपके संघका स्वागत किया गया और राज्यके न्यायमंदिरमें कई हजार जनता व खास दिवानसाहेब श्री सर कृष्णमाचारीकी उपस्थितिमें जो आपका गंभीर तत्वविवेचनपूर्ण भाषण हुआ वह सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। वहांपर सर्वजन साधारण-पर उस समय दि. जैन मुनियोंके महत्वका काफी प्रभाव पडा। इसी प्रकार कई स्थानोंमें आपके सार्वजनिक हितके तत्वोपदेश होते हैं। कई वर्षोंसे आप गुजरातमें छोटे बडे गांवोंमें विहारकर जो धर्मप्रभावना की है वह अभूतपूर्व है। गत तारंगा पंचकल्याणिक प्रतिष्ठाके विराट् उत्सवमें श्रीआचार्य शांतिसागरजी [छाणी] ने चतुःसंघके अनुरोधसे आपको आचार्य पदवीसे अलंकृत किया है। अनेक संस्थानके अधिपतियोंने आपकी विद्वत्ता व निर्मलचारित्रसे प्रभावित होकर अपने राज्यमें अहिंसादिनको मनानेकी प्रतिज्ञा की है, व आचार्यश्री के जयंतीदिनको मनानेकी अपने राज्यमें घोषणा की है। उनमेंसे कुछ निम्न लिखित प्रकार है।

सुदासनामें श्री मुनिराजके जन्म-दिन-निमित्त अहिंसा-दिन.

જાવક નં. ૭૪-૧૧-૮-૩૮

શ્રીમદ્ પરમપૂજ્ય દિ૦ જૈન ગુણરત્ન વીતરાગ તપોમૂર્તિ પરમ વિદ્વદ્વર્ય શ્રી ૧૦૮ આચાર્ય શ્રી શાંતિસાગરજી મહારાજના શિષ્ય શ્રી ૧૦૮ કુન્થુસાગરજી મુનિ મહારાજના શુભચરણે આજ રોજ એટલે શ્રી મહાવીર નિ. સં. ૨૪૬૪ વિ. સં. ૧૯૯૫ ના ઝાલાવાડી આસોજ સુદી ૧૫ તા. ૯-૧૦-૧૯૩૮ ના રોજ શ્રી દિ૦ જૈન સિદ્ધ-ક્ષેત્ર તારંગાજી ઉપર આપ મહારાજશ્રી ચતુર્વિધ સંઘસહિત ચાતુર્માસ રહેલા હોઈ આપ પૂજ્ય તપોનિધીભૂષણના ઉત્તમોત્તમ ચારિત્રની તથા વિદ્વત્તાની પ્રશંસા સાંભળી આપના દર્શનાર્થે હમારૂ આવાગમન યહી થયું. આપ પૂજ્યશ્રીના કલ્યાણકારી ઉપદેશના અવર્ણનીય પ્રભાવથી અમોએ નિશ્ચય કર્યો છે કે આપશ્રીનીં પવિત્ર જન્મ-સંસ્કારતિથી, મિતી કાર્તિક સુદી ૨ ના રોજ પ્રતિવર્ષ કોઈપણ પશુ, પક્ષી યા પ્રાણી માત્રની જીવહિંસા કરીશું નહીં, યા કરાવીશુ નહીં; તદુપરાંત હમારા સમગ્ર રાજ્યમાં પણ આ પવિત્ર જન્મસંસ્કારના રોજ હમારી પ્રજા અગર તો કોઇપણ શખ્સ કોઈપણ પ્રકારની હિંસા કરે નહીં, તેમજ કરાવે નહીં તેવું ફરમાન યાવચ્ચંદ્રદિવાકરૌ આજ રોજથી કરીએ છીએ.

આ ફરમાન હમારા વંશ તથા વાલીવારસો પણ પાળશેજ. જે બદલનો આ રૂકકો આપ મહારાજશ્રીના ચરણે સમર્પણ કરવામાં આવે છે. આજ તા. ૧૦ માહે અકટોબર સન્ ૧૯૩૮ ના રોજ હમારી સહી તથા સિકકો કરી આપવામાં આવ્યો છે.

(સિક્કો)

(Sd) Ranjitsingh
કુમારશ્રી સુદાસણા સ્ટેટ.

(Sd) Prithwisingh
ઠાકોર શ્રી સં. સુદાસણા

તા. ક.–ઉપર જણાવેલ મિતી કાર્તિક સુદ ૨ ના રોજ હરસાલ હમો તથા હમારી પ્રજા સંપુર્ણ પાખી ઉત્સવ ઉજવીશું તા. સદર.

(Sd) Ranjitsingh
કુમારશ્રી સુદાસણા સ્ટેટ

अहिंसा-दिनकी जाहिर नोटीस.

જા. નં. ૭૮—૧૧-૯-૩૮

નોટીસ.

શ્રી દરબાર ઠાકોરશ્રી સુદાસણા સ્ટેટ.

આ નોટીસથી સર્વ લોકોને જાહેર ખબર આપવામાં આવે છે કે કાર્તિક સુદ ૨ ના રોજ શ્રીમદ્ પરમપૂજ્ય તપોધન શ્રી ૧૦૮ શ્રી મુનિ કુંથુસાગરજી મહારાજની જન્મસંસ્કારતિથી હોવાથી તે મિતીના રોજ હમોએ હમારા રાજમાં કોઈ પણ પ્રકારની હિંસા ન કરવા યાવચ્ચંદ્રદિવાકરૌ પ્રતિબંધ કરેલ છે.

સબબ ઉપર જણાવેલ મિતીના રોજ કોઇપણ શખ્સે હમારા રાજ્યમાં પશુ યા પક્ષીની હિંસા કરવી નહીં યા કરાવવી નહીં. હમારા સદરહુ હુકમનો ભંગ કરનાર શખ્સ સખ્તમાં સખ્ત યોગ્ય શિક્ષાને પાત્ર થશે તે જાણવુ. તા. ૧૩ માહે આકટોબર સને ૧૯૩૮ સુદાસણા.

(Sd) Prithwisingh
ઠાકોરશ્રી સુદાસણા સ્ટેટ.

તા. ક.—વિશેષમાં જાહેર કરવામાં આવે છે કે ઉપર જણાવેલ મિતી કાર્તિક સુદ ૨ ના રોજ સમગ્ર પ્રજાએ સંપૂર્ણ પાખી રાખી શ્રીમહારાજ શ્રીકુંથુસાગરજી મહારાજનો જન્મસંસ્કારદિન ઉજવવો.

તા. સદર.

(Sd) Ranjitsingh
કુમારશ્રી સુદાસણા સ્ટેટ.

शिरोही राज्यमें अहिंसा दिन.

શ્રીમદ્ પરમપૂજ્ય દિ૦ જૈન ગુણરત્ન વીતરાગ તપોમૂર્તિ પરમ વિદ્વદ્વર્ય શ્રી ૧૦૮ આચાર્ય શ્રી શાંતિસાગરજી મહારાજના શિષ્ય શ્રી ૧૦૮ કુંથુસાગરજી મુનિ મહારાજના શુભચરણે. આજરોજ એટલે શ્રી મહાવીર નિ. સં. ૨૪૬૪ વિ. સં. ૧૯૯૫ ના ઝાલાવાડી આસો વદી ૪ તા. ૧૩-૧૦-૧૯૩૮ ના રોજ શ્રી દિ૦ જૈન સિદ્ધક્ષેત્ર તારંગાજી ઉપર આપ મહારાજ શ્રી ચતુર્વિધ સંઘસહિત ચાતુર્માસ રહેલા હોઇ આપ પૂજ્ય તપોનિધીભૂષણના ઉત્તમોત્તમ ચારિત્રની તેમજ વિદ્વત્તાની પ્રશંસા સાંભળી આપના દર્શનાર્થે મારૂ સુદાસણા અહિં આવવું થયું. આપ પૂજ્યશ્રીના કલ્યાણકારી ઉપદેશના અવર્ણનીય પ્રભાવથી મેં નિશ્ચય કર્યો છે કે આપશ્રીની પવિત્ર જન્મસંસ્કારતિથી મિતી કાર્તિક સુદ ૨ ના રોજ પ્રતિવર્ષ કોઇપણ પશુ, પક્ષી યા પ્રાણી માત્રની જીવહિંસા કરીશું નહીં યા કરાવીશું નહીં.

તદઉપરાંત હમારી સમગ્ર જાગીરમાં પણ આ પવિત્ર જન્મ-સંસ્કારના રોજ હમારી પ્રજા અગર તો કોઈપણ સખ્સ કોઈપણ પ્રકારની હિંસા કરે નહીં તેમજ કરાવે નહીં તેવું ફરમાન યાવચ્ચંદ્ર-દિવાકરૌ આજ રોજથી કરીએ છીએ.

આં ફરમાન અમારા વંશ તથા વાલીવારસો પાળશેજ જે બદલનો આ લેખ આપ મહારાજશ્રીના ચરણે સમર્પણ કરવામાં આવે છે. આજ તા. ૧૩ માહે આકટોબર સને ૧૯૩૮ ના રોજ મુ. શ્રી દિ૦ જૈન સિદ્ધક્ષેત્ર તારંગાજી.

કુંવર શેરસિંહ નિબજ. **કુમારશ્રી ઠેકાણા નિબજ.**

(શીરોહી રાજ્ય) પો. અનાદરા, વાયા આબુ.

———

३२ दिन अहिंसा मनानेकी प्रतिज्ञा.

શ્રીમદ્ પરમપૂજ્ય દિ૦ જૈન ગુણરત્ન વીતરાગ તપોમૂર્તિ શ્રી પરમ વિદ્દવર્ય શ્રી ૧૦૮ આચાર્ય શ્રીશાંતિસાગરજી મુનિ મહારાજના શિષ્ય શ્રી ૧૦૮ કુંથુસાગરજી મુનિ મહારાજના શુભચરણે આજરોજ એટલે શ્રી મહાવીર નિ. સં. ૨૪૬૫ વિ. સં. ૧૯૯૫ ના કારતક સુદી ૨ તા. ૨૫-૧૦-૧૯૩૮ ના રોજ શ્રી દિ. જૈન સિદ્ધક્ષેત્ર તારંગાજી ઉપર આપ મહારાજ શ્રીએ ચતુર્વિધ સંઘસહિત ચોમાસુ કરેલુ હોઈ આપ મહારાજશ્રીની જન્મતિથીનો શુભ મહોત્સવ હોવાના કારણે અમો ઠાકોર સરદારસિંહજી નાથુસિંહજી અને મોટા કુંવર શ્રી હિંમત-સિંહજી સરદારસિંહજી તેમજ નાના કુંવર શ્રી ગુલાબસિંહજી સરદાર-સિંહજી સાથે પૂજ્ય તપોનિધિભૂષણના દર્શનાર્થે આવેલા તેમજ ચતુરમાસ દરમ્યાન પણ અનેકવાર અમો સર્વનો આપ મહારાજશ્રીના દર્શનાર્થે આવવું થએલું.

આ સિદ્દક્ષેત્ર તારંગાજીનો પહાડ અમારા રાજ્યમાં આવેલો છે જેમાં આવેલાં દેવાલયોની ચારેય દિશાઓએ કિલ્લો આવેલો છે તે કિલ્લાની અંદર કોઈપણ શખ્સ કોઈપણ પ્રકારની જીવહિંસા કરી શકતો નથી તેવો મુદ્રાલેખ આપના સંઘને પ્રથમથીજ કરી આપેલો છે. આપ પૂજ્યશ્રીના કલ્યાણકારી ઉપદેશના અવર્ણનીય પ્રભાવથી હમોએ પ્રતિજ્ઞા કરી છે કે નીચે પ્રમાણે તારીખો એટલે દરેક વર્ષની:—

કારતક સુદી ૨ આપ મહારાજશ્રીની પુજ્ય જન્મતિથીના શુભ દિવસે.
કારતક સુદી ૮ થી ૧૫ સુદી શ્રીતારંગાજીતીર્થના અઠાયીના પર્વ દિવસો તથા તારંગાજીતીર્થના વર્ષગાંઠના દિવસોએ.
ચૈત્ર સુદી ૧૩ થી ૧૫ સુદી શ્રીમહાવીર સ્વામીની જયંતિના દિવસોએ તથા ઉત્સવોના દિવસોએ.

આસાઢ સુદી ૮ થી ૧૫ સુદીના અઠાયી પર્વના પવિત્ર. દિવસોએ.
ભાદરવા સુદી ૫ થી ભાદરવા વદી ૧ સુધી જૈન દિગંબરોના પર્યુસણ-
પર્વના પવિત્ર દિવસોએ.

ઉપર પ્રમાણે મલી કુલ **૩૨ "બત્રીશ"** દિવસોમાં દરવર્ષે અમો કોઈપણ પ્રકારની જીવહિંસા કરશુ નહીં એમ કરાવીશું નહીં ને તે તમામ શુભ દિવસો તથા રાત્રીઓ પવિત્રપણે પાળીશું. તેમજ હમારા આખા રાજ્યમાં તે દિવસોએ કોઈપણ વ્યક્તિએ જીવહિંસા કરવી નહીં તેમજ કરાવવી નહીં તેવો સખ્ત બંદોબસ્ત કરાવીશું તેમજ કોઈપણ વ્યક્તિ કરશે યા કરાવશે તેને સખ્ત શાસન આપશું તેવી પ્રતીજ્ઞા હમે યાવચ્ચંદ્રદિવાકરૌ આજથી કરીએ છીઓ.

આ પ્રતિજ્ઞા લેખપ્રમાણોની તમારી શરતો અમો તથા અમારા વંશ તથા વાલીવારસો પણ પાળશે એજ જે બદલનો આ લેખ હમારી સ્વખુસીથી આપ મહારાજશ્રીના ઉત્તમોત્તમ ચારિત્રથી પ્રેરાઇ કરી આપી આપ મહારાજશ્રીના શુભચરણે રજુ કરીએ છાઓ. તે સ્વીકારસો અમોએ અમારી સહી સાક્ષીથી આજરોજ શ્રીસિધ્ધક્ષેત્ર તારંગાજી ઉપર તા. ૨૫-૧૦-૧૯૩૮ ના રોજ કરી કરાવી છે.

લી. ભયારામ વીડસર તંત્રી લોહાણ્યાપ્રકાશ દારેઆપુર વાડીગામ
મહેતાપોળ અમદાબાદ

રુબરુ—શેઠ જીવણલાલ ગોપાલદાસ બેપારીઆ
ઉપ પ્રમુખ—તા. દિ. જૈન કો. સમિતિ.

ઠાકોર સરદારસિંગજી નાથુસિંગજી સહી દા.
દા. પોતાની તાલુકે ટીંબા. ઠાકોર શ્રી કુમાર હિંમતસીંહજી
સરદારસીંહજીની સહી દા. પોતે તાલુકે ટીંબા.
કુમાર શ્રી ગુલાબસીંહજી સરદારસીંહજી ચૌહાણ.

———

इससे सहज मालुम होसकता है कि आचार्यश्रीसे किस प्रकार लोकका उद्धार हो रहा है। आप जिस प्रकार ओजस्वी वक्ता हैं उसी प्रकार उद्भट लेखक भी हैं, अत एवं आप सर्वजनोपकार करने योग्य साहित्यका निर्माण करते हैं।

ग्रंथनिर्माण.

पूज्यश्रीने अपने विद्वत्ताके बलसे अनेक ग्रंथोंका निर्माण किया है। आपकी वीतरागवृत्ति इतनी बढी हुई है कि आप दिनमें घंटों मौन व्रतमें रहते हैं। केवल आत्मकल्याणेच्छु भव्योंके हितके लिए एक घंटा धर्मोपदेश देते हैं व तत्वचर्चा शंका-समाधान आदि करते हैं। बाकी चर्या, अल्पशयन, व ध्यान अध्ययनको छोडकर अन्य समयमें मौनमें रहकर आप ग्रंथनिर्माण करते हैं।

चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागरचरित्र, बोधामृतसार, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, ज्ञानामृतसार, लघुबोधामृतसार, लघुज्ञानामृतसार, स्वरूपदर्शनसूर्य, नरेशधर्मदर्पण, सुधर्मोपदेशामृतसार, श्रावकप्रतिक्रमणसार, शांतिसुधासिंधु, स्वानंदसाम्राज्यपद-प्रदर्शी, लघुसुधर्मोपदेशामृतसार, लघुप्रतिक्रमण, सुवर्णसूत्र आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ आप पूज्यश्रीके ही परिश्रमके फल हैं।

ग्रंथवर्णन शैली.

ग्रंथवर्णनशैलीके संबंधमें इतना ही हम कह सकते हैं कि पूज्यश्रीके आजपर्यंतके ग्रंथ जिस प्रकार अत्यंत महत्वपूर्ण होते हुए

भी आबालवृद्धोंको समझने जैसे सुलभ हैं, उसी प्रकार प्रकृत ग्रंथ भी अत्यंत सुलभशैलीसे निर्मित है। थोडा भी संस्कृतका अध्ययन जिन्होंने किया है वे महर्षिके ग्रंथके श्लोकोंको लगा सकेंगे। विषयोंका संकलन इस प्रकार किया है कि एक दफे स्वाध्याय करके तृप्ति नहीं हो सकती है। जटिलसंस्कृत,दीर्घसमास, विचित्र अलंकारसे युक्त काव्यमय ग्रंथके बनानेसे साधारण श्रेणीकी जनताको उपयोग नहीं हो सकता है, इसी विचारसे इस सरल व सरस शैलीको महर्षिने अपनाया है।

ग्रंथ विषय.

प्रकृत ग्रंथमें महाव्रती साधुवोंके आचार विचार का वर्णन है, गृहस्थको मुनिधर्मके प्रति अनुरागी होना आवश्यक है। मुनियोंके चारित्रके संबंधमें अत्यंत सरल पद्धतिसे इस ग्रंथमें प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यह ग्रंथ श्रावक व साधु दोनोंके लिए उपयोगी हैं।

आभार प्रदर्शन.

अंतमें हम ऐसे विश्ववंद्य साधुवोंका विहार सर्वत्र सदा हो एवं उनके द्वारा लोकका उद्धार हो यह भावना करते हुए इसके प्रकाशनके कार्यमें जिन सज्जनोंने गुरुभक्ति व उदार हृदयसे सहायता दी है उनके प्रति हार्दिक आभार मानते हैं। इति भद्रम्!

सोलापुर ता. २५–७–४१ — गुरुचरणसेवक—
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

टीकाकारका परिचय

संयुक्तप्रांतवर्ती आगरा नगरके निकट एक चावली गांव है। वह है तो छोटा पर है सुंदर। इसी गांवमें पद्मावतीपुरवाल जातिमें भूषणस्वरूप लाला तोतारामजी थे। वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अच्छे अनुभवी वैद्य थे। तथा जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे। यही कारण था कि वे गांवके शिरोमणि गिने जाते थे। आपने इस संसारको वि. सं. १९६५ में छोडा था।

आपके छह पुत्र हुए।

१ **लाला रामलालजी**— आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घरपर व्यवसाय करते रहे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार और उत्तम था, आप बडे धर्मात्मा थे। आपने वि. स. १९७० में इस नश्वर शरीरको छोडी।

२ **लाला मिठ्ठनलालजी**—आप घरपर रह कर व्यवसाय करते हैं। आपने बाल्य जीवनमें कुछ दिन अलीगढकी पाठ-शालामें संस्कृत भाषाका अभ्यास किया था।

३ इस ग्रंथके टीकाकार 'धर्मरत्न' पं. लालारामजी शास्त्री।

४ **श्री १०८ आचार्यवर्य श्री सुधर्मसागरजी**— आपका पूर्वनाम पं. नन्दनलालजी शास्त्री था। वीर नि.सं. २४५४ के

फाल्गुण मासमें जब कि श्री सम्मेद शिखरजीपर इतिहास प्रसिद्ध पंचकल्याणक महोत्सव हुआ था उस समय आपने शुभ मिति फाल्गुन शुक्ला १३ के दिन परमपूज्य आचार्यवर्य श्री शांति सागरजी महाराजसे गृहविरत सप्तम प्रतिमाकी दीक्षा ली थी। इसके एक वर्ष बाद कुंडलपुर क्षेत्रपर दशवीं अनुमतिविरत प्रतिमा धारण की थी। फिर अलीगढमें क्षुल्लक दीक्षा धारण की थी तथा प्रतापगढमें परम जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी। आपने संघमें रहकर अनेक मुनियोंको संस्कृत भाषा पढाकर संस्कृत भाषाका उत्तम विद्वान् बनाया। आप संस्कृतके तो शास्त्री थे साथमें हिंदी और गुजराती भाषाके भी लेखक थे। आप प्रसिद्ध व्याख्याता भी थे। आपने चौवीसी पाठ, दिवाली पूजन, कविता के भी ग्रंथ लिखे हैं। सूर्यप्रकाश पुरुषार्थानुशासन आदि संस्कृत ग्रंथोंकी टीकाएं भी लिखी हैं, गुजराती भाषामें भी आपने कितने ही ग्रंथ लिखे हैं। उत्तमोत्तम और उपदेश पूर्ण 'जीव कर्म विचार' सदृश ट्रैक्ट लिखे हैं और कितनी ही लेख मालाएं लिखी हैं। अंतमें आपने चौवीसो तीर्थंकरोंकी महास्तुतिकी रचना उत्तम संस्कृत भाषामें की, सुधर्मध्यानप्रदीप नामका ध्यानके उत्तम ग्रंथकी रचना भी संस्कृत भाषामें की और सुधर्म श्रावकाचार नामके परम उत्तम ग्रंथकी रचना की। आप वैद्यक भी जानते थे। आपके पुत्रका नाम जयकुमार है जो मोरेनामें विशारद और कलकत्तामें आयुर्वेद शास्त्री पासकर जसवंत नगरमें चिकित्साका कार्य कर रहा है।

५ न्यायालंकार पं. मक्खनलालजी शास्त्री— आप संस्कृत भाषाके अद्वितीय विद्वान् हैं और हिंदी भाषाके सम्मान्य लेखक हैं। आपने देहली नगरमें आर्य समाजियोंके साथ लगातार छह दिन तक शास्त्रार्थ कर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसी समय वहांके अग्रवाल, खंडेलवाल, पद्मावतीपुरवाल आदि समस्त पंचोंने 'वादीभकेसरी' की सुप्रसिद्ध उपाधि आपको दी थी। इसके सिवाय न्यायालंकार विद्यावारिधिकी उपाधियां भी आपको प्राप्त हैं। भारतवर्षीय दि० जैन महासभाने आपकी अनुपम सेवासे प्रसन्न होकर 'धर्मधीर' की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

इस समय आप समस्त दिगम्बर जैन समाजमें एक अच्छे माननीय कर्णधार विद्वान हैं। आपने वर्षोंतक उक्त महासभाके मुखपत्र साप्ताहिक जैनगजटकी संपादकीका जिम्मेदार कार्य बड़ी सुयोग्यतासे किया है। तथा अधार्मिक वातावरणको हटाते हुए धर्मका उद्योत किया है।

आपने पंचाध्यायी, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और उत्तरार्द्ध राजवार्तिकालंकार की अत्यंत विस्तृत और स्वतंत्र टीकाएं लिखी हैं जिनमें प्रत्येक पदार्थका विवेचन बड़ी योग्यता और सरलताके साथ किया है।

आपने भारत वर्षीय दि. जैन महासभाश्रित परीक्षालयके मंत्रित्वका कार्य भी बडी योग्यताके साथ किया है। आप सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं और कितने ही स्थानोंसे आपको मानपत्र प्राप्त हुए हैं।

इस समय आप श्री गोपाल दि. जैन सिद्धांत विद्यालयका कार्य बडी योग्यता और जिम्मेदारीके साथ कर रहे हैं ।

६ बाबू श्रीलालजी जोंहरी— इस समय आप जयपुरमें रहकर जवाहरातका व्यवसाय बडी योग्यता और प्रतिष्ठाके साथ कर रहे हैं । आपके इस समय दो पुत्र हैं ।

इस ग्रंथके टीकाकार ' धर्मरत्न ' पं लालारामजी शास्त्री समाजमें एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं । आपने अनेक गंभीर संस्कृत महान् ग्रंथोंकी बडी सरलरूपमें हिंदी टीकाएं की हैं । तथा ग्रंथोंके मर्मस्थलोंको बहुत उत्तमतासे स्पष्ट एवं विशद किया है । आपकी टीकाओंमें ग्रंथका कठिण भाग भी सरलतासे समझा दिया जाता है । आपके द्वारा टीका किये हुए बहुतसे ग्रंथ हैं जिनमें कुछके नाम इस प्रकार है ।

आदिपुराण, उत्तरपुराण, शांतिपुराण, धर्मामृत श्रावकाचार, प्रबोधसार, चारित्रसार, आचारसार, धर्मप्रश्नोत्तर, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, जिनशतक, पात्रकेशरी स्तोत्र, संशयिवदनविदारण, गौतमचरित्र, सूक्तिमुक्तावली, तत्त्वानुशासन, वैराग्यमणिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, दशलाक्षणिक जयमाला, मोक्षशास्त्र, बृहत्स्वयंभू स्तोत्र, लघीयस्त्रय, सुभौमचरित्र, चतुर्विंशतिसंधान, मूलाचार प्रदीप, दशभक्त्यादिसंग्रह, लाटीसंहिता, आलापपद्धति, भावसंग्रह, श्रुतस्कंधविधान, चतुर्विंशति स्तोत्र, चतुर्विंशति स्तोत्र, बोधामृतसार, ज्ञानामृत सार, सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार । आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रंथमालाके प्राय सब ग्रंथ—

इनके सिवाय बालबोध जैन धर्म तीसरा चौथा भाग षोडश संस्कार, आदिपुराणकी समीक्षा की परीक्षा दो भाग, जैन धर्म आदि स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं तथा संस्कृत भाषामें आचार्य शांति सागर पूजन आचार्य शांतिसागर छाणी पूजन, आचार्य कुंथुसागर पूजन, आचार्य सुधर्मसागर पूजन और भक्ताभर शतद्वयीकी रचना की है। इस प्रकार आपने संस्कृत तथा हिंदी भाषाके साहित्यकी बहुत कुछ उन्नति की है। उसके लिए यह समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

आप जैन गजटके संपादक रह चुके हैं तथा वर्तमानमें भारत वर्षीय दि. जैन महासभाके सहायक महामंत्री हैं। महासभाने आपकी दूरदर्शिताकी पूर्ण निस्पृहसेवासे प्रसन्न होकर आपको 'धर्मरत्न' की महत्वशालिनी उपाधिसे विभूषित किया है। आप भा. दि. जैन शास्त्रिपरिषदके संरक्षक भी है। आपके पुत्रका नाम राजेन्द्रकुमार है जो मैनपुरीमें सौदागरीकी अच्छी दुकान कर रहा है।

श्री पंडितजीकी यह साहित्यसेवा जैन साहित्य प्रचारके लिए पूर्ण सहायक हुई है। जैन समाज हृदयसे अपने महोपकारीका अभिनंदन करेगा। हम पंडितजीका अभिनंदन करते हैं।

वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
विद्यावाचस्पति, न्यायकाव्यतीर्थ, सोलापूर।

विषय सूचि।
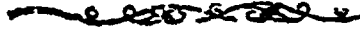
विषय	श्लोक संख्या
मंगलाचरण और ग्रंथ कहनेकी प्रतिज्ञा। जिनका अर्थ—मुनिधर्म ही आत्माका कल्याणकारी है। अठ्ठाईस मूलगुणोंके नाम।	१
अहिंसा महाव्रतका स्वरूप। जीवोंके भेद—जीवहिंसा त्यागके उनंचास भेद। हिंसाका स्वरूप। हिंसाके कुछ भेद।	२
सत्यमहाव्रतका स्वरूप। पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं। सप्तभंगी शास्त्रविरुद्ध कहना असत्य है।	३
अचौर्यमहाव्रतका स्वरूप।	४
ब्रह्मचर्यमहाव्रतका स्वरूप। ब्रह्मचर्यके घातके कारण। शीलकी नौ वाढ। शीलके अठारह हजार भेद। उसके यंत्र।	५
परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप। परिग्रहके भेद। ममत्व ही परिग्रह है उसीका त्याग आवश्यक है। पीछी, कमंडलु परिग्रह नहीं है।	६

स्वर्गीय श्रीमती कलावतीदेवी
धर्मपत्नी ला. रतनलालजी जैन रईस एंड बेंकर्स
बिजलीवाले देहलीकी स्मृतिमें
ला० विश्वंभरनाथ हरिश्चंद्र देहली
द्वारा प्रकाशित.

—=* आदर्श साधु *=—

भारतीय अनेक धर्मोके तत्वज्ञानकी ओर दृष्टि डालने पर मालुम होगा कि प्रायः सभी आस्तिक्यवादियोंने मोक्ष-पदार्थको स्वीकार किया है। भले ही उसके साधनमार्ग में मत-भेद हो, परंतु मोक्षप्राप्तिसे आत्माको सुख होता है, उसे इस संसारकी झंझटोंसे मुक्त होनेके लिए मोह, मद, मायादिकको त्यागकर आत्मविशुद्धिके मार्गका अवलंबन करना आवश्यक है, इस विषयपर बहुत कम मतभेद होगा।

जैनतत्वज्ञानमें इस लोकको षड्द्रव्यके समूह स्वरूप स्वीकार किया है। उन छह द्रव्योंमें जीवद्रव्य भी एक प्रधान द्रव्य है। वह इस संसारमें अन्य द्रव्योंके साथ खासकर अजीव द्रव्यके साथ अर्थात् देहादिक पुद्गलद्रव्यके साथ संयुक्त होनेसे अनादि-कालसे कर्मसे संबद्ध हुआ है। कर्मपरिबद्ध जीवको शरीरकी प्राप्ति होनेसे वह उससे व उसके संबंधसे अन्य पदार्थोंसे मोह करने लगता है। उससे कषाय जागृति होती है। तदनंतर विकारप-रंपरा बढती जाती है। फिर दुःख परंपरा बढती है। यदि इस आत्माको उन दुःखोंसे बचाना हो तो उसे परपदार्थों के संसर्ग से हटाना होगा। क्यों कि असली दशामें जो सुख है वह नकली दशामें नहीं है। अत एव महर्षि-

योंने आज्ञा दी कि आत्मपरिणामकी विशुद्धिके लिए जिन कारणोंसे आत्मामें क्षोभ व संक्लेश वढता हो उन कारणोंको दूर करना आवश्यक है। जब परपदार्थका संबंध धीरे २ हटकर विलकुल यह आत्मा अन्यपदार्थोंसे हट जायगा अर्थात् आत्मा अकेला रह जायगा, वही मुक्ति है। कर्मबंधनसे विलकुल छूट जाना ही मुक्ति है। श्रावक हो या चाहे साधु हो सबका ध्येय इस आत्माको कर्म से मुक्त करना है। उसके लिए आवश्यक है कि वह क्रम क्रम से बाह्य और अभ्यंतरकर्मके कारणोंको दूर करें।

प्रत्येक कार्यके लिए बाह्य व अभ्यंतर कारणोंकी आवश्यकता होती है। इस आत्माको संसारमें कर्मबद्ध होनेके लिए अभ्यंतरसे आत्मीय परिणाम और बाह्यसे मोहोत्पादक शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि जिस प्रकार है, उसी प्रकार उससे मुक्त होनेके लिए भी अंतरंगसे आत्मपरिणामकी विशुद्धि, स्वकर्मक्षयोपशम तथा बहि-रंगसे शरीरादिक बाह्य पदार्थोंसे मोहका त्याग करना भी आव-श्यक कारण है। भोगमें आसक्ति, शरीरसंरक्षणमें संलग्नता, आदि संसारके लिए कारण हैं। अत एव मोक्षकामियोंको इसे कम करने के लिए आदेश दिया गया है। दूसरी बात आत्माके स्वस्वरूपके चिंतवन करनेके लिए स्वस्थचित्तकी आवश्यकता है। चंचलमन परिग्रहोंके रहते हुए रागद्वेषादि विकारोंसे संयुक्त होकर कभी स्थाईभावको उत्पन्न नहीं कर सकता और न उससे आत्मदर्शन ही होसकता है। अत एव आचार्योंने उस परम आदर्शकी सिद्धिके लिए बतलाया कि बाह्य व अभ्यंतर परिग्रह, जिनके कारणसे

आत्मा प्रक्षुब्ध होता है, उनको त्याग करनेकी आवश्यकता है। जहां इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठा हो जाती है, बाह्य परिग्रहोंके साथ २ शरीरकी भी जहां उपेक्षा हो जाती है उसे ही महाव्रत या सकलसंयमके नामसे कहा है। जिस महान् आत्मामें इंद्रियदमन, कषायनिग्रह, व्रतधारण, समितिपालन, अनर्थविषयोंका त्याग करनेका सामर्थ्य हो, वही इस दिगंबरसाधुत्वकी दशाको अंगीकार कर सकता है। क्यों कि यह कोई सामान्यविषय नहीं है। जो व्यक्ति स्वतःके मनपर विजय प्राप्त करसकता है वही लोकपर विजय प्राप्तकर सकता है। आज किसी व्यक्तिको लाख या करोड रुपयोंकी संपत्ति भी मिलती हो तो भी सहसा सबके सामने नग्न होकर खडे रहनेका साहस नहीं करेगा। परंतु दिगंबर-साधुओंको कुछ पता ही नहीं। उनको यह भी पता नहीं कि नग्नता क्या चीज है। जिस प्रकार एक निर्विकारी बालकको यह मालुम नहीं रहता है कि मेरा नग्न रहना दूसरोंको खटकता है या नहीं, इसी प्रकार उन मुनिराजोंको उस ओर लक्ष्य नहीं। साथमें यह भी बात है कि उस निर्विकारी बालकका हृदय परिशुद्ध होनेसे उसे देखनेवाली स्त्रियोंके हृदयमें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होसकता है, उसी प्रकार उन मुनिराजोंके हृदयमें भी विकारका अंश लवलेश भी न होनेसे उनका दर्शन करनेवाले स्त्री पुरुषोंके हृदयमें भी विकारकी उत्पत्ति नहीं होसकती है। मानसिकविज्ञानको अध्ययन करनेवाले इसे अच्छीतरह समझ सकते हैं कि सामनेकी चीज जैसी हो उसे देखनेवालोंपर उसका वैसा ही

प्रभाव पडता है । अविकारियोंको देखकर विकार क्योंकर पैदा हो सकता है ?

अहिंसा महाव्रत

जैन साधुवोंको पंचमहाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति आदि अठ्ठाईस मूलगुणोंको पालन करना अनिवार्य है । परंतु इन सबका एकमात्र ध्येय अहिंसा परमो धर्मकी पुष्टि है । जो योगी रात्रिं-दिन यह भावना करते हैं कि हमारे अस्तित्वसे लोकके किसी भी प्राणीका अहित न हो, मन, वचन, काय, व कृत कारित, अनु-मोदनासे किसी भी प्राणिके अशुभचिंतन हमसे नहीं हो, वे ही दिगंबरसाधु अहिंसामहाव्रतके सच्चे उपासक हैं । उनके सभी आचार, सभी मूलगुण, अहिंसामहाव्रतके पोषणके लिए ही हैं । अहिंसामहाव्रतके पोषणके लिए ही दिगंबरत्व है । क्यों कि परिग्रह हिंसाका कारण है । लोभसे परिग्रहका ग्रहण होता है । लोभसे अनेक हिंसादिक पाप मनुष्य करता है । जिन योगियोंने वस्त्रादिक समस्त परिग्रहोंका परित्याग किया, उनको हिंसाका दोष क्यों लगेगा?

परमस्वातंत्र्य

जैन साधुवोंको किसी भी कारणसे परतंत्रताका अनुभव नहीं करना पडता है । उनका जीवन परम स्वातंत्र्यमय है । लोकमें परतंत्र वही देखा जाता है जिसे दूसरे लोगोंसे कुछ अपेक्षा हो । परंतु जैनयोगियोंको किसी भी प्रकारकी अपेक्षा दूसरोंसे नहीं है । उनकी सर्व क्रियायें स्वाधीन हैं । यहांतक कि वे अपने हाथोंसे ही केशलोच तक करते हैं । धनिक

जैनसमाज उनके क्षौरके लिए एक दो आना व्यय नहीं कर सकती हो, यह बात नहीं। इसमें भी उन निस्पृहवृत्तिके धारक साधुवोंको पराधीनता इष्ट नहीं। केशलुंचन महती कठिन तपश्चर्या है। परन्तु जैनसाधु उसे लीलाके साथ करते हैं। इससे उनके आत्मदार्ढ्यका सहज ही पता लगता है। इस कष्टसे बचने के लिए वे जटाको वढा नहीं सकते। जटा बढानेसे अनेक जीवजंतुओंकी उत्पत्ति होकर हिंसा संभव होगी। सारांश यह है कि उनकी प्रत्येकक्रिया अहिंसाके आधारपर अवस्थित है। और वे उनके पालनमें किसी अन्य व्यक्तिके बंधनको अंगीकार नहीं कर सकते।

उच्चादर्श

जैनसाधुवोंकी वृत्ति बहुत उच्चादर्शसे युक्त है। और वह सर्वसाधारण सुलभ नहीं है। महर्षियोंने इसे असिधाराव्रतके नाम से कहा है। वस्तुतः यह उतना ही कठिन है। सर्पको धरनें के समान इस व्रतको धरना पडता है। जरा भी हाथको ढीला कर दिया तो सर्प जिस प्रकार हाथको काट खाता है, उसी प्रकार इस व्रतमें शिथिलता होनेपर भयंकर अधःपतनका कारण होता है। इसलिए इसे दृढतासे धारण करना पड़ता है। इसमें स्वेच्छाचारके लिए स्थान नहीं। महर्षि वादीभसिंहने एक स्थान पर कहा है कि—

' **चित्रं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी** ' इसलिए स्वैराचार व विकार इस अवस्थामें खप नहीं सकते। उनके पास

दोषोंको ढकनेके लिए कोई साधन नहीं रहता। जिन्होंने इंद्रियों पर विजयको प्राप्त किया है, कषायोंका निग्रह किया है, चित्त वृत्तिपर लगाम लगाया है जो संवेगसे युक्त हैं, वे ही इस परमोत्कृष्ट चारित्रको धारण कर सकते हैं। विशेष क्या? केवल शिर मुंडानेसे मुनि नहीं हो सकता, मन भी मुंडाना पडता है, केवल बाह्यवस्त्रोंका त्याग करनेसे मुनि नहीं बन सकता, वस्त्रोंकी अपेक्षा करानेवाले मोहरागादिक अंतरंगपरिग्रहोंका पहिले त्याग करनेकी आवश्यकता है, केशलुंचन जिस प्रकार बाह्य निर्ममताको दिखानेके लिए आवश्यक है उसी प्रकार क्लेशलुंचन अंतरंगके निर्ममत्वको प्रकट करनेके लिए उससे भी पहिले आवश्यक है। सारांश यह है कि निर्विकारहृदय ही दिगंबर अवस्थाको धारण कर सकता है। जिनके हृदयमें नवजात बालकके समान निर्विकारभावना है वे ही इस महाव्रतमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। लोकमें परिग्रह ही दुःख व ममताके लिए कारण है। जहांपर देहादिक समस्त पदार्थोंमें परकीयभावना होती है, तुषमात्र परिग्रह भी त्याज्य माना जाता है, वहांकी निरीहवृत्तिका क्या वर्णन किया जाय? उनको कोई बंधु नहीं, कोई मित्र नहीं, कोई परिवार नहीं, पत्नी नहीं, पुत्र आदि कुछ भी नहीं, फिर मोह करें किससे? "चित्रं जैनी तपस्या हि यस्यां कायेऽपि हेयता" अर्थात् यह दिगंबरतपस्या अत्यंत विचित्र है जिसमें कायसे भी ममकारका परित्याग करना पडता है। यही कारण है कि उनके हृदयमें निर्विकार भावना जागृत रहती है।

दिगंबर साधु विश्वकल्याणके लिए प्रयत्न करते हैं। उनको कोई स्वार्थ नहीं रहता है, लोककल्याण करते हुए अपना कल्याण करना ही उनका ध्येय रहता है।

जैनसाधुओंको सततविहार आवश्यक है।

जैनसाधुओंकी वृत्ति मोहरहित होती है। उन्हें कोई न बंधु है और न शत्रु है। " समता सर्वभूतेषु " इस प्रकारके मंत्रको वे रात्रिंदिन चिंतवन करते रहते हैं। बडेसे बडे संपत्तिधारी उनके चरणसेवक बनते हैं, परंतु इसका उन्हें हर्ष नहीं। बडीसी बडी विपत्ति उनको आ घेरती है। इसका उन्हे खेद नहीं। वे वस्तुस्थितिके अनुभव करते हुए समताभावसे अपने समय को व्यतीत करते हैं। यही कारण है कि उनको किसी भी प्रकार का दुःख नहीं हुआ करता है।

संसार में दुःख अज्ञान से हुआ करता है, अज्ञान मोहजन्य है। जब वे साधु मोहका ही त्याग करते हैं तो अज्ञान व दुःख क्योंकर उत्पन्न हो सकता है ? उनके मनमें सदा वैराग्य भावना जागृत रहती है। संसारकी दशाकी वे सदा इस भावसे विचार करते हैं।

त्यज्यते रज्यमानेन, राज्येनान्येन वा जनः।
भज्यते त्यज्यमानेन; तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम्।

अर्थात् संसारमें जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके लिए साधन भूत समझकर अपनाता है, उनपर मोह करता है, ऐसे राज्य-भोगादिक तो उसे नहीं चाहते तो उसे ठुकारा देते हैं। अप्रिय

पदार्थोंको यह उपेक्षाकर छोड़ता है तो वे पदार्थ इसे चाहकर आते हैं, यह उल्टी रीत है। अत एव विवेकियोंको इसका परित्याग करना चाहिए। इत्यादि भावनासे सदा मोहके परिकरको दूर रखते हैं। इसीलिए महर्षियोंने आज्ञा दी है कि जैनसाधुओंको सतत विहार करना चाहिए। क्यों कि एक स्थानपर रहने से अतिपरिचय हो सकता है, तत्प्रदेशके लोगोंसे मोह, स्नेह हो सकता है, जो कि उनके महाव्रतके लिए बाधक है। अत एव वे अपने व्रतकी शुद्धि के लिए एक स्थान में अधिक मुक्काम नहीं करें। सतत विहार करें। एक स्थान में दीर्घ समय तक रहना उनके लिए दोषजनक है। किसी खास सिद्धक्षेत्र आदिपर विशेष कारणसे या अध्ययन, समाधि आदि के निमित्त वे अधिक समय भी ठहर सकते हैं। परंतु ग्राम नगरादि में अधिक ठहरना उनके लिए निषिद्ध है। परंतु बरसातके दिनोंमें चार महिने पर्यंत वे एक ही स्थानपर ठहरे ऐसा नियम है। इसमें भी अहिंसावृत्तिकी ही प्रधानता है। जिस समय सब जगह हरियाली बढ जाती है उनके विहारसे एकेंद्रियादि प्राणियोंको बाधा पहुंचेगी। इस विचारसे चार महिने एक ही स्थान में रहकर भव्योंके कल्याणके लिए प्रयत्न करते हैं। सारांश यह है कि चातुर्मासके चार महिनोंको छोडकर मोहकी वृद्धि न हो, इसलिए वे साधुगण सतत विहार करते ही रहते हैं। परंतु वे—

रात्रि में विहार नहीं कर सकते।

विहार करते हुए भी वे साधुगण अपने सामायिक, आहार

ग्रहण आदिके समय को टालकर सूर्योदय के अनंतर दो घडी और सूर्यास्त के पहिले दो घडी छोडकर विहार करते हैं। कारण कि उनको ईर्यासमितिपूर्वक विहार करना पडता है। इसमें भी अहिंसावृत्तिकी ही प्रधानता है।

मग्गुज्जोवुपओगालंवण सुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥

मूलाचार–पंचाचाराधिकार ३०२

अर्थात्—मार्गशुद्धि, नेत्र व सूर्यप्रकाश, उपयोग, आलंबन, इनकी शुद्धतासे सूत्रोक्त विधिसे चार हाथ जमीनका निरीक्षण करते हुए गमन करना उनके लिए ईर्यासमिति है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राणियोंके संरक्षणके लिए उनको दिनमें ही सूर्यके प्रकाशमें गमन करना चाहिये। परप्राणियोंको उनके विहारसे कोई बाधा न हो यही इस समितिका मुख्य लक्ष्य है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वे मुनिराज—

रात्रिभोजन भी नहीं कर सकते

रात्रिमें जब विहार नहीं कर सकते, तब वे साधुगण रात्रिमें भोजन भी नहीं कर सकते हैं। कारण सूर्यके प्रकाशमें ही विहार करनेकी आज्ञा है। एवं रात्रिभोजनसे उनके लिए अनेक अनर्थ-परंपरा हो सकती है। आगममें कहा है—

तेसिं पंचण्हंपि य वयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अहवे रादीभत्तप्पसंगेण ॥

मूलाचार–पंचाचाराधिकार २९६

अर्थात्—उन मुनिराजोंको रात्रिभोजनके प्रसंगसे पंचमहाव्रतों का भंग, चोर आदि की शंका, कोतवाल आदिसे बंधे जाने आदि विपत्तिकी संभावना है। अतएव महाव्रतोंकी विशुद्धिके लिए वे रात्रिभोजनका सर्वथा त्यागी रहते हैं। वे दिनमें एक वार भोजन के लिए शुद्ध प्रासुक भूमिपर गमन करते हैं। प्रतिनित्य भोज-नके लिए जावे ही, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। इंद्रियोंको दमन करनेके लिए व कषायोंके अनुद्रेकके लिए प्रायः वे अनशनादि तप करते रहते हैं। शरीरके संरक्षणके लिए—वह भी ध्यानाध्यय-नादिकी सिद्धिके लिए आहार लेनेके लिए जावें तो अत्यंत निस्पृ-हतासे, भैक्ष्यशुद्धिसे, गोचरीवृत्ति या भ्रामरीवृत्तिको एवं वृत्ति-परिसंख्यान तपको अवलंबन कर वे शहरमें जाते हैं। आहारग्र-हण करनेमें उनको गृद्धता नहीं रहती है। किसी तरह रत्नत्रयकी प्राप्तिमें साधनीभूत शरीरके संरक्षणके निमित्त पाणिपात्रसे ही खडे २ ही भोजन करते हैं। शरीरको वे अपना एक सेवक समझते हैं। वह शरीर मोक्षमार्गपर आरूढ साधुकी सेवा करता है। अत एव उसे खडे २ ही भोजन कराते हैं एवं उसपर कडी नजर रखते हैं कि वह कहीं पौन पेटसे अधिक नहीं खा जाय जिससे संयमकार्यमें बिगाड उत्पन्न करें। आहार को जाते समय वे मुनिगण वृत्तिपरिसंख्यान तपका आचरण करते हैं। मैं आज अमुक वस्तुको नहीं खाऊंगा, अमुक घरके सामने अमुक प्रकार का दृश्य मुझे देखने में आवें तो मैं आहार ग्रहण करूंगा। स्त्री-पुरुष मिलकर स्वागत करें तो मैं आहार ग्रहण

करूंगा। आज चार गलियोंसे अधिक गलियोंमें आहारार्थ पर्यटन नहीं करूंगा, ७ घरोंमें मिले तो ग्रहण करूंगा, इत्यादि प्रकारसे नियम लेकर जाते हैं। उसी प्रकार नियमसे मिले तो ग्रहण करते हैं, नहीं तो लाभालाभसमाचित्त होकर स्वस्थानपर लौट जाते हैं। इंद्रियविजय व मनोनिग्रहका यह उज्वल आदर्श तप है। भोजन करते समय उनकी गोचरीवृत्ति व भ्रामरीवृत्ति रहती है। जिस प्रकार गाय चरते समय जमीनपर पडी हुई सर्व प्रकारकी तृणराशिको यत्नके साथ भक्षण करती है, उसी प्रकार वह साधु श्रावकके द्वारा दिये हुए अन्नादिकका स्वाद न लेकर इधर उधर चित्त न लगाकर विधिप्रकार ग्रहण करते हैं इसे गोचरीवृत्ति कहते हैं। *

जिस प्रकार भ्रमर पुष्परसको ग्रहण करते समय पुष्पके लिए कोई हानि नहीं पहुंचाता, उसी प्रकार जैन साधु श्रावकको कष्ट न पहुंचाते हुए एक ही घरमें आहारको ग्रहण करते हैं। इसे भ्रामरीवृत्ति कहते हैं × इसमें भी साधुवोंकी निर्विकारवृत्ति व अहिंसावृत्तिका पोषण है।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जैन साधुओंकी वृत्ति आहार ग्रहण करते समय भी किसीके प्रति अहितकारक नहीं हो सकता

---

* गौर्यथात्ति तृणव्रातं, क्षिप्तं भुंजीत यत्नतः।
तथान्नाद्यमनास्वाद्य गोचारज्ञो यथोचितम्।

× भृंगः पुष्पासवं यद्वत्गृण्हात्येकगृहेशनम्।
गृहिबाधां विना तद्वद्भुंजीत भ्रमराशनः।

आचारसार अ. ५

है। आहारदान की विधिका बहुभागसंबंध स्त्रियोंसे भी आता है। तथापि उन महात्माओंका उस ओर कोई लक्ष्य ही नहीं रहता है। उपर्युक्त कथनसे यह भी स्पष्ट है कि मुनिगणोंको आहार ग्रहण करनेके लिए, जिनवंदनाके लिए, धर्मप्रभावनाके लिए, धर्मोपदेशके लिए शहरमें आना अनिवार्य है। मथितार्थ यह है कि वे सदा नियमानुसार विहार करते रहते हैं। रात्रिमें विहार नहीं कर सकते। एवं रात्रिमें मौन धारण करते हैं। एवं शहरमें उनको आना आवश्यक है। तथापि उनसे किसी भी प्राणीको कोई प्रकारका कष्ट नहीं होता है। आजतक ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास या इतिहासातीत कालका नहीं मिल सकता है, जिससे यह सिद्ध कर सकें कि अमुक दिगंबर साधुसे अमुकको कष्ट हुआ, प्रत्युत् हम डंकेकी चोट यह सिद्ध कर सकते हैं कि दिगंबर साधुओंकी वृत्तिसे असंख्यात प्राणियोंका कल्याण हुआ है। ऐतिहासिक कालमें सैकडो राजावोंके राज्यस्थापनमें दिगंबर साधुओंके तपःप्रभाव सहायक हुआ है। इन उदाहरणोंसे इतिहासके अध्यायोंके अध्याय भरे पडे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जैन-साधु निरुपद्रवी होते हैं। उनका संयम बहुत ऊंचा है। उनके प्रति कोई भयंकरसे भयंकर उपसर्ग करें तो भी वे उसका प्रतीकार करनेके लिए प्रयत्न नहीं करते। शांतिसे उसे सहन करते हुए, उसके प्रति द्वेष न करते हुए सर्वथा आहारका परित्याग करते हैं। अंतिम समयमें भी अपनी आत्मसमाधिमें ही अपनेको मग्न करते हैं। यही उनका आदर्श है।

अन्य संप्रदायोंमें दिगंबरत्वका आदर

हिंदूसंप्रदायमें माने हुए परमहंसपरिव्राजक नामक साधु दिगंबर ही होते हैं। वे देशकालसे परे, स्वाचरणमें निष्ठ होते हैं। इस प्रकार उनके ग्रंथोंमें प्रतिपादन किया है । हिंदुओंमें अनेक साधु नग्न थे इस बातका उल्लेख मिलता है । राजा परीक्षितको जिस समय सर्पदंष्ट्र हुआ उस समय तत्वश्रवण करनेकी भावना उसके हृदयमें उत्पन्न हुई तब दिगंबरत्वके शांतिमय उपदेशको जब शुकदेवमुनिने दिया उसको शांति हुई । राजा भर्तृहरि "कदा शंभो भविष्यामि पाणिपात्रो दिगंबरः" इस पवित्र भावनाको पहिलेसे ही भाते २ परिव्राजक हुए थे । इस प्रकार सैकडों ऐसे स्थान मिलेंगे जहां हिंदू पुराण, उपनिषत् आदि ग्रंथोंमें दिगंबरत्वके महत्वगीतको गाया है । उनके कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतात्ति तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥

यजुर्वेद अध्याय १९ मंत्र १४

भावार्थ—अतिथिस्वरूप मासोपवासी नग्नस्वरूप महावीरकी उपासना करो जिसमें संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप तीन अज्ञान और धनमद, शरीरमद, विद्यामदकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

" बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुर्भगवान् परमर्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षता तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्श-

यतुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुनाऽवततार।"

भागवतपुराण अध्याय ३ स्कंध ५

अर्थ—हे राजा परीक्षित! यज्ञमें परम ऋषियों करके प्रसन्न हो, नाभिके प्रिय करिवेकी इच्छासे वाके अंतःपुरमें मरुदेवीमें धर्म दिखायवेंकी कामना करके दिगंबर रहिवेवारे तपस्वी ज्ञानी नैष्ठिक ब्रह्मचारी उर्द्ध्वरेता ऋषियोंको उपदेशको शुक्लवर्णकी देहधारी ऋषभदेव नामका अवतार लिया।

प्रभासपुराणमें श्री नेमिनाथ भगवान्‌का वर्णन यों किया है—

पद्मासनसमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोथैवं नाम चक्रेस्य वामनः॥

तात्पर्य—वामनने पद्मासनसे बैठे हुए श्याममूर्ति और दिगंबर नेमिनाथका नाम शिव रक्खा।

वैराग्यशतक स. १९८२ लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबादमें मुद्रित। पृष्ठ ९९ में—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशा सुदशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्मनिर्मूलयन्ति॥

अर्थ—जिनका हाथ ही पवित्र बर्तन है, भिक्षा शुद्धिसे प्राप्त अन्न ही जिनका भोजन है, दशोंदिशायें ही जिनके वस्त्र हैं, संपूर्ण पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, एकांतमें निःसंग रहना ही जो पसंद

करते हैं। दीनताको जिन्होंने छोड दिया है तथा कर्मोंको जिन्होंने निर्मूल कर दिया है और जो अपने ही में संतुष्ट रहते हैं उन पुरुषोंको धन्य है।

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥५८॥

—वैराग्यशतक पृष्ठ १०७

अर्थ—"हे शम्भो! मैं अकेला इच्छारहित, शान्त, पाणिपात्र जिसके हाथ ही पात्र हो। और दिगंबर (दिशायें ही जिसके वस्त्र हो) होकर कर्मोंका नाश कब कर सकूंगा।"

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥ ९० ॥

—वैराग्यशतक पृष्ठ १२१

अर्थ—"अब हम भिक्षा ही करके भोजन करेंगे। दिशा ही के वस्त्र धारण करेंगे, अर्थात् नग्न रहेंगे, और भूमिपर ही शयन करेंगे फिर भला हमें धनवानोंसे क्या मतलब है?

अष्टात्रिंशदुपनिषदके जावालोपनिषद्, छापा व्यंकटेश्वर सं. १९६६ का छपा गुटका पृष्ठ २६० तथा २६१ पर—

"यथाजातरूपधरो निर्ग्रंथो निष्परिग्रहस्तद्‌ब्रह्ममार्गे सम्यक्‌सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरमात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्र-गृहनदीपुलिनगिरिकुहरकंदरकोटरानिर्झरस्थंडिलेषु तेष्व-

निकेतवास्य प्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्म-निष्ठो अशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति'

भावार्थ—जो यथाजातरूप (नग्नरूप) धारण करनेवाला, अंतरंग और बहिरंग परिग्रहका त्यागी, शुद्धमनवाला, विशुद्ध आत्मीयमार्गमें ठहरा हुआ, लाभ और अलाभमें समानबुद्धि रखता हुआ, प्राणरक्षाके लिए योग्यकालमें स्वच्छन्द भिक्षावृत्तिसे उदरपोषण करता है तथा सूने घर, देवमंदिर, वृक्षोंकी खोखल, फूंसके झोंपडे, पर्वतकी गुहा, धर्मशाला, नदीका किनारा, निर्जन-स्थान आदिसे भी निर्ममत्वबुद्धि रखता हुआ शुक्लध्यानमें तत्पर अपने आत्ममें तल्लीन होकर अशुभ कर्मोंका नाश करके संन्याससहित शरीरका त्याग करता है, वह परमहंस नामसे विख्यात होता है।

इसी प्रकार और भी लीजिये—

ॐ नग्नं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भसनातनमुपैम ।

यजुर्वेद अ. ९ मं. २५

ॐ वृषभं पवित्रं नग्नयुपवि (ई) प्रसामहे ।
येषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीराः ॥

अर्थात् शुद्ध और पवित्र नग्न मुनिको नमस्कार करता हूं, जिनकी जाति नग्न व बलवान् है ।

नग्नं परमाहसंस्तुतं वीरं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्रमाहुरिति स्वाहा।

यजुर्वेद अ. २५ मं. ९

मुनिर्दिगंबरो बालो मायामुक्तो दयापरः ।

दत्तात्रेयस्तोत्र पा. २४

वराहमिहरने अपनी बृहत्संहितामें अध्याय ५८ श्लोक ४५ में यों लिखा है ।

" आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशांतमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥ "

अर्थात्—" अर्हंतदेवकी घुटनोंतक लंबी भुजाओंवाली, छाती पर श्रीवत्सके चिन्हयुक्त शांत, नग्न, युवावस्थावाली मूर्ति सुंदर बनानी चाहिए ।

कुसुमांजलि ग्रंथके पृष्ठ १६ वें पर लिखा है ।

" निरावरणा इति दिगंबराः "

तैत्तरीय आरण्यकके १० वें प्रपाठकके ६३ वें अनुवादकमें लिखा है ।

" कंथाकोपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूप धरा निर्ग्रंथा निष्परिग्रहाः ॥ " इति संवर्तश्रुतिः ।

पद्मपुराण भूमिखंड अ. ३७-३८ पृष्ठ ३५ ३६ में जैन धर्मके विषयमें एक कथा लिखी है उसमें का यह श्लोक है ।

" अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रंथो दृश्यते गुरुः ।
दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ॥ १७ ॥

लिंगपुराण अध्याय ४७ पृष्ठ ६८ श्लोक २२ में लिखा है—

" सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरं ।
नग्नजटो निराहारो चीरोध्वांतगतो हि सः ॥

उपनिषद्में परमहंससाधुका वर्णन इस प्रकार है ।

तुरीयः परमो हंसः साक्षन्नारायणो यतिः ।
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् ॥

अथर्ववेद जाबालोपनिषद्में परमहंसका वर्णन करते हुए कहा है कि " **यथाजातरूपधरो योगी निर्ग्रंथो निष्परिग्रहः** "

श्वेतांबर आगमोंमें भी जिनकल्पी मुनिको " **अचेलगोय जे धम्मो** " वाक्यसे बहुत महत्व दिया है। वे नग्न ही रहते हैं। यही उच्च आदर्श है। महावीरस्वामीने (श्वेतांबर मतसे) १३ महीने तक इंद्रके दिए हुए वस्त्रको धारण किया था। बादमें उसका परित्याग कर नग्न होकर ही मोक्ष प्राप्त किया था। इसी प्रकार अनेक तीर्थंकरोंने नग्नताको धारण कर ही मुक्तिधामको पाया है।

आचारांगसूत्रके ८ वें अध्यायके सातवें उद्देश्यमें लिखा है कि " **अदुवा तत्थ परक्कमंतं अचेलं तणपासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगमपमाणे। तवे से अभिसमन्नागये भवइ। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा, सव्वओ सव्वत्ताये समतमेव समभिजाणिया** " अर्थात् जो मुनि लज्जाको जीत सकता हो वह मुनि नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, आदि जो भी परीषह प्राप्त हो उनको सहन करें। ऐसा करने से मुनिको चिंता कम रहती है। और तपकी सिद्धि होती है। इसलिए जैसा भगवानने कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे पूर्ण समझता रहे। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट होता है कि नग्न रहना यह साधुका आदर्शरूप है। जिनमें परीषह सहन करनेका सामर्थ्य नहीं, लज्जा जीतनेकी हिम्मत नहीं ऐसे कमजोर साधुओंको वस्त्र रखनेका विधान है, जिसे दिगंबरियोंने श्रावकश्रेणीमें विहित किया है।

आचारांगसूत्रके छठे अध्याय के तृतीय उद्देश्यके २६० के सूत्रको जरा देखियेगा।

" जे अचेले परिवुसिये तस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ—परिजिन्ने मेनत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सूई जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाणिस्सामि "।

अर्थात् जो मुनि वस्त्ररहित (नग्न) होते हैं उनको यह चिंता नहीं रहती कि मेरा कपडा फट गया है। मुझे दूसरा नया कपडा चाहिए। कपडा सीनेके लिए सूई, धागा चाहिए। तथा यह चिंता भी नहीं रहती कि मुझे कपडा रखना है, फटा हुआ अपना कपडा सीना है, जोडना है, फाडना है, पहनना है, या मैला कपडा धोना है।

सारांश यह है कि श्वेतांबरमतमें भी आदर्श व उच्च दर्जेके साधुओंके लिए वस्त्र रखनेका विधान नहीं है। कमजोर व लज्जाशील साधु रख सकते हैं। उनको उसी प्रकारकी मुक्ति मानेंगे तो सहज यह प्रश्न उठेगा कि जब दोनों आत्मावोंकी शक्तिमें अंतर है तो फिर दोनोंको एकसी मुक्ति कैसी? ऐसी हालतमें मुक्तदशामें भी अंतर मानना होगा। एक लज्जाशील व कमजोर सिद्ध और दूसरा निर्विकार व समर्थसिद्ध। इस प्रकार के सिद्धात्माओंको स्वीकार करना होगा। ऐसा करनेसे अनेक अनर्थ परंपरा होगी जिनका उल्लेख करना यहां अप्रस्तुत होगा। मतलब इतना ही है कि वस्त्रादिक बाह्य-परिग्रहोंके रहते हुए मुक्ति कभी नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक दृष्टि.

इतिहास काल में दिगंबर साधुवोंका विहार सर्वत्र यथेष्ट होता था। उनको सर्व राज्योंमें सन्मान का स्थान था।

नंदसाम्राज्यमें दिगंबर मुनियोंको यथेष्ट आदर था। अंतिम नंदराजानें पंचपहाडी नामक पांचस्तूप पटनामें बनवाया था। जो कि अभी प्रसिद्ध तीर्थ है। एक नंदराजा स्वयं मुनि होगये थे। उनके मंत्री शकटाल भी जैनी थे। शकटालके पुत्र स्थूलभद्र भी दिगंबर मुनि होगये थे। शिशुनागवंशके अंत व नंदराज्यके प्रारंभकालमें जंबूस्वामी अंतिमकेवलीने भारतवर्षमें सर्वत्र विहारकर धर्मवर्षण किया था। मथुरामें नंदकालमें सैकडो जैनस्तूप जैन मुनियोंकी स्मृति में बनाये गये हैं।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मुनिराज भद्रबाहुका परमभक्त थे। इतना ही नहीं वे दिगंबरतपस्वियोंके आदर्श तपश्चर्यापर मुग्ध होकर अपने शेष जीवनमें स्वतः दिगंबरदीक्षासे दीक्षित हुए थे।

अशोकने अपने एक स्तंभलेखमें निर्ग्रंथ साधुवोंकी रक्षका आदेश निकाला था। सम्राट् संप्रति जैनसाधुवोंके परम भक्त थे। इस प्रकार मौर्य साम्राज्यमें दिगंबरत्वका काफी उद्योत रहा। इसी प्रकार शुंग व आंध्रराज्योंमें भी दिगंबरसाधुवोंका समादर रहा। सिकंदर महान् भी अपने समयमें दि. साधुवोंकी आदर्श तपश्चर्यासे प्रभावित हो गया था। यवनछत्रप आदि राजावोंके कालमें भी उनके राज्यमें जैनसाधुवोंको यथेष्ट सन्मान था।

सम्राट् ऐलखारवेल जैन धर्मका परमभक्त था। उसने भारतकी विजय की थी, उन्होने व उनकी राणीने जैनसाधुवोंकी भक्तिमें

बहुमूल्य जिनमंदिर आदि बनवाकर उनमें अर्हत् प्रतिमावोंकी स्थापना की है। सम्राट् खारवेलके समयमें जैन धर्मकी प्रभावनाके अनेक कार्य हुए हैं।

गुप्तवंशमें प्रसिद्ध चंद्रगुप्तके समयमें मुनिराज वज्रनंदी, कुमारनंदी, लोकचंद्र, प्रभाचंद्र, नेमिचंद्र, भानुनंदि, जयनंदि, वसुनंदि, वीरनंदि, रत्ननंदि, माणिक्यनंदि, मेघचंद्र, शांतिकीर्ति, मेरुकीर्ति आदि विद्वान् मुनिराज होगये हैं। हर्षवर्धन व हुएनसांगके समयमें दिगंबर साधुवोंका काफी प्रभाव था। हर्षके समयमें उज्जैनके साधुसंघमें जैनाचार्य महाकीर्ति, विष्णुनंदि, श्रीभूषण, श्रीचंद्र श्रीनंदि, देशभूषण आदि प्रतिभाशाली आचार्य थे।

इसी प्रकार राजपूतोंके राज्यमें भी दिगंबर साधुओंका विहार निर्बाधरूपसे होता था। मालवाके परमारवंशके राजा मुंज और भोजके समयमें भी दिगंबर साधुवोंकी काफी प्रतिष्ठा थी। मुंजनरेशने दिगंबर जैनाचार्य महासेनका सन्मान किया था। सिंधुराजके अनुरोधसे उन्होंने प्रद्युम्नचरित की रचना की है। दिगंबर जैनाचार्य प्रभाचंद्र भी राजा मुंजके समकालीन थे। अनेक ग्रंथोंके रचयिता माथुरसंघके प्रसिद्ध आचार्य अमितगति भी उसी समय हुए हैं। अमितगति बडे भारी विद्वान् थे।

राजा भोजने अपनी दरबारमें प्रभाचंद्राचार्यका सन्मान किया था। दिगंबर जैनाचार्य शांतिसेनने भोजके दरबारमें सेकडों विद्वानोंको वादमें परास्त किया था।

राजा भोजके समयमें मानतुंगाचार्य प्रतिभाशाली आचार्य थे, कुछ लोगोंके उकसानेपर राजा भोजने मानतुंगाचार्यको अड-

तालीस तालोंके कोठेमें बंद कर दिया था। भक्तामर स्तोत्रकी रचनासे वे ताले टूट गये, व वे अपने आप बंधनमुक्त हुए। इस योगसे प्रभावित होकर राजा भोज जैनधर्ममें दीक्षित होगये थे। इसी प्रकार नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ति भी राजा भोजके समयमें थे। चामुंडराय नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तीके प्रियशिष्य थे, चामुंडरायने स्वतः अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। नयनंदि नामक आचार्य भी इसी समय हुए हैं। दिगंबर तपस्वियोंको राजे रजवाडोंमें बखूबी सन्मान प्राप्त था। अनेक जैनसाधुओंने राजसभाओंमें उपस्थित होकर, अन्ययोगव्यवच्छेद कर जैनधर्मकी अपूर्व प्रभावना की है। जैनसाधुओंकी निर्विकारताके लिए यहांतक प्रसिद्ध था कि उनके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं थी, कहीं किसी राजमहलके गुप्तस्थानमें किसी सी. आय. डी. को जानेका प्रसंग आता तो दिगंबर साधुओंके वेषको धारण कर बेरोक टोक महलमें प्रवेश करता। सारांश यह है कि दिगंबर साधुओंके प्रति इस प्रकार सार्वजानिकक्षेत्रमें विश्वास था।

गुजरात में भी उस समय दिगंबर जैनमुनियोंका केंद्र था, अंकलेश्वरमें भूतबलि और पुष्पदंतने धवलादि महाराद्धांत ग्रंथों की रचना की थी। गिरनारमें दि. मुनियोंका संघ बहुत प्राचीन कालसे रहता था। भृगुकच्छ (भरौंच) दि. जैनोंका केंद्र था। सोलंकियोंकी राजधानी अणहिलपुरपट्टनमें सैकडों दि. मुनि रहते थे, श्रीचंद्र मुनि वहींपर थे। सोलंकी सिद्धराजने एक वादसभा कराई, उस में भाग लेने के लिए कर्णाटकसे वादि कुमुदचंद्र नामक दि. जैनाचार्य पैदल नग्न ही पाटन पहुंचे थे। उनका

सिद्धराजने बडा सन्मान किया था। दिगंबराचार्य ज्ञानभूषण महाराजने कर्णाटक, तौलव, तिलंग, द्राविड, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, रायदेश, मेदपाट, मालव, मेवात, कुरुजांगल, तुरुव, विराट् देश, नमियाड, टग, राट, नाग, चोल आदि देशोमें विहार किया था व तत्तद्देशोंके विद्वानोंके द्वारा प्रतिष्ठा पाई थी। देवरायराजा, मुदिमालराय, रामनाथराय, बोमरसराय, कलपाराय, पांडुराय आदि अनेक राजावोंने उनके चरणोंकी वंदना की थी, इसी प्रकार राष्ट्रकूट, चंदेल, होयसल, पांड्य व गंगवंश आदिके राजावोने दिगंबर साधुवोंका बडे भारी सम्मान किया था। राष्ट्रकूटके प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष भगवज्जिनसेनाचार्यके शिष्य था। अमोघवर्षके कालमें जैनधर्मका विशेष उद्योत हुआ था। एवं राजा अमोघवर्ष अंतिमजीवनमें स्वतः दिगंबरमुनि हुए थे।

आंध्र व चालुक्य कालमें भी अनेक राजावोंने दिगंबर साधुवोंका सन्मान किया था। पुलकेशी द्वितीय, विनयादित्य, विक्रमादित्य आदिने दि. साधुवोंका यथेष्ट सन्मान किया था। विक्रमादित्यने एक जैनमंदिरका जीर्णोद्धार कराया था।

इसी प्रकार कलचूरि वंशके राजा बिज्जलराय जैनधर्म व जैनसाधुवोंका परमभक्त था। होयसाल राजावोंमें प्रसिद्ध विष्णु वर्धन जैनधर्मका परमभक्त था, होयसल राजा विनयादित्यके गुरु दिगंबर साधु श्री शांतिदेव मुनि थे। विजयनगर साम्राज्यके प्रभावशाली सम्राट् हरिहर द्वितीय व राजकुमार उग्र दि. जैन धर्म में दीक्षित हुए थे। दिगंबर साधु धर्मभूषणजी राजा देवराय के गुरु थे। आचार्य विद्यानंदिने देवराज व कृष्णराय के दरबार

में वाद किया था। इसी प्रकार महर्षि कुंदकुंद, उमास्वामी, समंतभद्र, वादीभसिंह, नेमिचंद्राचार्य, अकलंक, जिनसेन, विद्यानंदि, वादिराज आदि अनेक साधु पुंगवोने अपने २ समय में जैनधर्मका उद्योत किया था, वे प्रतिभासंपन्न विद्वान् आचार्य थे। इतना ही क्यों मुसलमान शासकोंके काल में भी जैनसाधुवोंका यथेष्ट आदर हुआ था। मैसोरके शासक हैदर अलीने श्रवण बेलगोलकी नग्न बाहुबलीकी मूर्तिसंरक्षण, पूजा अभिषेकके लिए कई गांवोंकी जागीर भेट की थी। मुहम्मदगौरी, गुलाम बादशाह, खिलजी तुगलक, सुलतान अल्लाउद्दीन, लोदी सिकंदर निजामखां आदिके समयमें दि. जैन साधुवोंका यथेष्ट सन्मान था। मुगल साम्राज्यमें भी जैन मुनियोंको आदर था।

पुरातत्व कालीन शिलालेख, ताम्रपट, स्तूप लेख आदियोंसे भी जैन साधुवोंका आदर्श प्रकट होता है। ऐतिहासिक कालीन व पुरातत्व कालीन हजारों निदर्शन इसके लिए उपलब्ध हैं। परंतु प्रस्तुत प्रकरण बढनेके भयसे सूचनामात्र लिखा है।

इस प्रकार दार्शनिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक किसी भी दृष्टिसे हम परिशीलन करें, हमें दिगंबर जैन साधुवोंका आदर्श दृष्टिगोचर हुए विना नहीं रहेगा। आज भी हर्ष है कि दिगंबर तपस्वी भारतवर्षमें सर्वत्र विहारकर वीतरागधर्मका प्रचार कर रहे हैं। वे सदा जयवंत रहे।

श्री वीतरागाय नमः

आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरजीविरचित

मुनिधर्मप्रदीप ।

" धर्मरत्न " पं. लालारामजी शास्त्रीकृत
हिंदीभाषाटीकासहित.

ग्रंथो वरः स्वसुखदो मुनिधर्मदर्शी,
नत्वा जिनं गतमलं प्रविरच्यते वै ।
तद्बोधशून्यजनबोधक एव युक्त्या,
श्रीकुंथुसिंधुवरसूरिवरेण शान्त्यै ॥ १ ॥

महावीर जिनराजके चरण नमों सुखकार ॥
धर्मदीप टीका लिखूं भवि जीवनि हितकार ॥

अर्थ—आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर स्वामी सबसे पहले अठारह दोषों से रहित भगवान् जिनेंद्रदेवको नमस्कार करते हैं और फिर समस्त संसारमें शान्ति स्थापन करने के लिए मुनि धर्म को न जानने वाले पुरुषोंको युक्तिपूर्वक

मुनिधर्मका स्वरूप समझानेवाला वा मुनियोंके धर्म वा कर्तव्य को दिखलानेवाला, और अपने आत्माको सुख देनेवाला मुनिधर्मप्रदीप नामका उत्तम ग्रंथ निरूपण करते हैं।

भावार्थ—भूक, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, आश्चर्य, राग द्वेष, मोह, चिंता, रति, निद्रा, स्वेद, खेद, विषाद, रोग ये अठारह दोष कहलाते हैं। ये सब दोष मोहनीयकर्मके उदयसे ही अपना कार्य करते हैं। जब मोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है और ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय कर्म नष्ट हो जाते हैं तब वे जीव अरहंत वा जिन कहलाते हैं। ऐसे भगवान् अरहंतदेवके अठारह दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। इन चारों घातिया कर्मोंमेंसे सबसे पहले मोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है, मोहनीयकर्मके नष्ट होते ही अठारहों दोष नष्ट हो जाते हैं। अठारह दोषोंके नष्ट होनेके अनंतर ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म नष्ट होकर, केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानके साथ ही साथ अनंतचतुष्टय प्रगट हो जाते हैं और वे भगवान् अरहंतदेव कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अठारह दोषोंके नाश होने पर केवलज्ञान होता है और अवश्य होता है। इसीलिए इस श्लोकमें जिन वा अरहंतका विशेषण अठारह दोषोंसे रहित होना लिखा है जो जो अठारह दोषोंसे रहित होते

हैं वे सर्वज्ञ भी अवश्य होते हैं। तथा जो वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे यथार्थ उपदेश देते हैं। सर्वज्ञ वीतराग होनेके कारण वे कभी भी अन्यथा उपदेश नहीं देते। तथा ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेवका कहा हुआ धर्म वा मोक्षका मार्ग यथार्थ धर्म और यथार्थ मोक्षका मार्ग कहलाता है। तथा यथार्थ मोक्षमार्गको वा मुनिधर्मको आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर महाराजने उन्हीं वीतराग सर्वज्ञदेवके कथनानुसार इस ग्रंथमें निरूपण किया है।

मुनिधर्मको पालन करनेसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है। समस्त पापोंका नाश हो जानेसे आत्मा अत्यंत निर्मल और शुद्ध हो जाता है, तथा अत्यंत शुद्ध हो जानेसे यह अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंत सुखको प्राप्त हो जाता है। इसीलिये आचार्य महाराजने उस मुनिधर्मको कहनेवाले इस शास्त्रको अपने आत्मसुखको देनेवाला बतलाया है।

जो महापुरुष अपने आत्माके अनंत सुखको प्राप्त हो जाते हैं उनसे समस्त संसारी जीवोंका कल्याण होता है, अथवा उनको निमित्त पाकर संसारी जीव अपना कल्याण कर लेते हैं। इसके सिवाय इन मुनिधर्मको पालन करनेवाले मुनिराज रागद्वेषका त्याग कर परम शांत हो जाते हैं, इसीलिये इस ग्रंथका प्रगट होना भी विश्वशांतिके लिये

बतलाया है। इसप्रकार इस श्लोकमें मंगलाचरण और ग्रंथ निरूपण करने की प्रतिज्ञा, दोनों ही आजाती हैं।

मुनिराज कमसे कम अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं। उन अट्ठाईस मूलगुणोंमें अहिंसामहाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्याग-महाव्रत ये पांच महाव्रत हैं। ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और व्युत्सर्ग-समिति ये पांच समिति हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, श्रोत्र इन्द्रिय इन पांचों इन्द्रियों-का निरोध करना है।

समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। तथा स्नानत्याग, दन्तधा-वनत्याग, भूमिशयन, केशलोंच, अचेलत्व वा नग्नता धारण करना, स्थितिभोजन वा खडे होकर आहार लेना, और दिनमें एकबार भोजन लेना ये सात अलग अलग व्रत हैं। इस प्रकार मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इस ग्रंथमें इन्हीं सबका वर्णन है।

उनमेंसे सबसे पहले अहिंसा महाव्रतका स्वरूप कहते हैं।

मत्वेति सर्वभुवनस्थितसर्वजीवान्
रक्षन् निजात्मसमकान् परमार्थबुध्या ।

शुद्धे सुतिष्ठति वरे स्वपदे सदा योऽ-
हिंसा महाव्रतपतिः स च मोक्षगामी ॥ २ ॥

अर्थ— वे मुनिराज इस समस्त संसारमें भरे हुए समस्त जीवोंको अपने आत्माके ही समान मानते हैं और इसीलिये केवल परमार्थबुद्धिसे सदाकाल उनकी रक्षा करनेमें तत्पर रहते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज अत्यंत शुद्ध और सर्वोत्तम ऐसे अपने आत्मामें लीन रहते हैं। इसप्रकार अहिंसा महाव्रतको पालन करनेवाले मुनिराज अहिंसामहाव्रत के स्वामी और मोक्षगामी कहलाते हैं।

भावार्थ— अनंत आकाशके मध्यभागमें लोकाकाश है। उस लोकाकाशके तीन भाग हैं, एक अधोलोक, दूसरा मध्यलोक, और तीसरा ऊर्ध्वलोक। इन्हीं तीनों लोकोंमें सर्वत्र जीवराशि भरी हुई है। वे जीव दो प्रकारके हैं, एक मुक्त और दूसरे संसारी। संसारी जीवोंके भी दो भेद हैं, एक त्रस और दूसरे स्थावर।

दो इंद्रिय, चौइंद्रिय, पंचेंद्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं। और एकेंद्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिक जीव स्थावर जीव कहलाते हैं। नित्य निगोद इतर निगोदके जीव भी इन्हीं स्थावर जीवोंमें गिने जाते हैं।

त्रसजीवोंके पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा स्थूल, सूक्ष्म आदिके भेदसे अनेक भेद हो जाते हैं। ये सब जीव तीनों लोकोंमें भरे हुए हैं। स्थावरजीव तो तीनों लोकोंमें सर्वत्र भरे हैं। इनके सिवाय अधोलोकमें नारकी रहते हैं। ऊर्ध्व लोकमें देव रहते हैं। मध्यलोकमें मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं। इस प्रकार चारों गतियोंके जीव तीनों लोकोंमें भरे हुए हैं। इन सब जीवोंके गुणस्थान, मार्गणास्थान, योनि, कुल आदि के भेदोंसे अनेक भेद हो जाते हैं। अहिंसा महाव्रत धारण करने वालोंको इन सब जीवोंका स्वरूप समझ लेना चाहिए। तथा वे सब कहां कहां उत्पन्न होते हैं किस किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और उनकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है आदि सब बातें समझ लेना चाहिए। इन सब बातें समझ लेनेसे ही समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग हो सकता है।

यह मनुष्य हिंसादिक कार्य अपने मन वचन काय योगोंके द्वारा करता है। और उसके मन वचन काय की क्रियामें भेद होनेसे हिंसामें भी भेद हो सकता है। कोई स्वतः हिंसा करता है, कोई दूसरोंसे कराता है, कोई दूसरोंने हिंसा की तो अनुमोदना देता है। और उसका भी विकल्प मन वचन कायके द्वारा व्यस्त व समस्त भेदसे होता है। इस लिए उपर्युक्त जीवोंकी हिंसाका त्याग मनसे होता है, वचनसे होता है और कायसे होता है। स्वयं करनेका त्याग

किया जाता है, दूसरेसे कराने का त्याग किया जाता है। और किसीके द्वारा की हुई हिंसा की अनुमोदना करनेका त्याग किया जाता है। इस प्रकार मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे किये हुए त्यागके उनंचास भेद होते हैं। यथा—मनसे करना, मनसे कराना, मनसे अनुमोदना करना, मनसे करना कराना, मनसे करना अनुमोदना करना, मनसे कराना अनुमोदना करना और मनसे करना कराना अनुमोदना करना। इस प्रकार मनसे होनेवाली हिंसाके सात भेद होते हैं। जिसप्रकार ये मनसे हिंसाके त्यागके सात भेद होते हैं उसीप्रकार वचनके द्वारा होनेवाले हिंसाके त्यागके सात भेद होते हैं, कायके द्वारा होनेवाले हिंसाके त्यागके सात भेद होते हैं, मन वचन दोनोंके द्वारा होनेवाले हिंसा त्यागके सात भेद होते हैं, मन कायके द्वारा होनेवाले हिंसात्यागके सात भेद होते हैं, वचन काय दोनोंके द्वारा होनेवाले हिंसात्यागके सात भेद होते हैं, और मनवचन—कायके द्वारा होनेवाले हिंसा त्यागके सात भेद होते हैं। इसप्रकार हिंसा त्यागके सब उनंचास भेद होते हैं। मुनिराज इन सबके द्वारा समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देते हैं। इसीलिये उनके इस व्रतको अहिंसा महाव्रत कहते हैं। इन सबके भेद नीचे लिखे कोष्ठकसे समझ लेना चाहिये।

मन कृत	वचन कृत	काय कृत	मन वचन कृत	मन काय कृत	वचन काय कृत	मन वचन काय कृत
मनकारित	वचन कारित	काय कारित	मन वचन कारित	मन काय कारित	वचन काय कारित	मन वचन कायकारित
मनोनुमो-दिव	वचनोनु-मोदित	कायेनुमो-दित	मन वचन अनुमोदित	मन काय अनुमोदित	वचन काय अनुमोदित	मन वचन काय अनु.
मन कृत कारित	वचन कृत कारित	काय कृत कारित	मन वचन कृत कारित	मन काय कृत कारित	वचन काय कृत कारित	मन वचन कायकृत कारित
मनकृत अनुमोदित	वचन कृत अनुमोदित	काय कृत अनुमोदित	मन वचन कृत अनुमोदित	मन काय कृत अनुमोदित	वचन काय कृत अनुमोदित	मन वचन काय कृत अनुमोदित
मन कारित अनुमोदित	वचन कारित अनुमोदित	काय कारित अनुमोदित	मन वचन कारित अनुमोदित	मन काय कारित अनुमोदित	वचन काय कारित अनुमोदित	मन वचन कायकारित अनुमोदित
मन कृत कारित अनुमोदित	वचन कृत कारित अनुमोदित	काय कृत कारित अनुमोदित	मन वचन कृत कारित अनुमोदित	मन काय कृत कारित अनुमोदित	वचन काय कृत कारित अनुमोदित	मन वचन काय कृत कारित अनुमोदित

वास्तवमें देखा जाय तो अपने हृदयमें राग द्वेषका उत्पन्न न होना अहिंसा है और रागद्वेषका उत्पन्न होना हिंसा है। इसका भी कारण यह है कि रागद्वेषके उत्पन्न होनेसे अन्यजीवोंकी हिंसा हो वा न हो तथापि अपने आत्माका घात अवश्य हो जाता है। आत्माका स्वाभाविक स्वभाव क्षमारूप वा शांतिस्वरूप है। रागद्वेषके उत्पन्न होनेसे उस स्वभावका घात हो जाता है, इसीको स्वहिंसा वा आत्महिंसा कहते हैं। तथा रागद्वेषके वा कषायोंके उत्पन्न होनेसे जो दूसरोंके प्राणोंका घात किया जाता है उसको परहिंसा कहते हैं। इसप्रकार स्वहिंसा और परहिंसाके भेदसे हिंसाके दो भेद होते हैं इन दोनों प्रकारकी हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है।

संसारमें झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि जितने पाप हैं उन सबमें हिंसा अवश्य होती है। अत एव हिंसा का सर्वथा त्याग करने के लिए ही झूठ चोरी आदि समस्त पापोंका त्याग किया जाता है। समस्त पापोंका तथा समस्त राग द्वेष वा कषायोंका त्याग कर देनेसे ही पूर्ण अहिंसा महाव्रत का पालन होता है।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेपसे अहिंसामहाव्रत का स्वरूप बतलाया है। जो पुरुष इस अहिंसामहाव्रतको पालन करता है वह रागद्वेष आदि समस्त विकारोंका त्याग कर देनेके कारण केवल अपने आत्मामें ही लीन रहता है इसी

लिए आचार्य महाराजने मुनिराजके लिए यह विशेषण दिया है।

जिस पुरुषके हृदयमें रागद्वेष का सर्वथा अभाव होता है और जो समस्त जीवोंकी रक्षा करनेमें सर्वदा तत्पर रहता है ऐसे महापुरुषसे यदि किसी जीवका घात भी हो जाय तो भी वह महापुरुष उस हिंसासे होनेवाले पापका भागी नहीं होता। जैसे कोई डाक्टर वा जर्हा किसी रोगीको बचानेके लिए उसके फोडा वा अन्य किसी घावकी चीरा फाडी करता है और उससे वह रोगी मर जाता है तो वह डाक्टर अपराधी नहीं गिना जाता। इसी प्रकार यदि किसी पुरुषके हृदयमें रागद्वेष होता है; तो, उससे किसी जीवका घात हो वा न हो उसे आत्महिंसासे होनेवाले पापका भागी अवश्य होना पडता है। जैसे कोई पुरुष किसी अन्य पुरुषके मारनेका इरादा करता है यदि उससे वह पुरुष न भी मरे तो भी वह मारनेका इरादा करनेवाला पुरुष अपराधी ही गिना जाता है। इन दोनों बातोंसे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि अपने हृदयसे रागद्वेष का सर्वथा त्याग कर देना ही अहिंसामहाव्रत है।

इस संसारमें इस हिंसा का पाप अनेक प्रकारसे लग जाता है। जैसे कोई एक पुरुष किसी जीवको मारता है और पचास सौ देखने सुनने वाले मनुष्य उसकी प्रशंसा करते हैं तो उस हिंसाको भला माननेवाले उन पचास सौ

मनुष्योंको भी उस हिंसाका पाप अवश्य लगता है। कोई मनुष्य किसी जीवको मारनेकी इच्छा करता है, परंतु मार नहीं सकता तो भी उस मनुष्यको उस हिंसाका पाप अवश्य लग जाता है। इस प्रकार हिंसा न करने पर भी हिंसा का पाप लग जाता है। कोई मनुष्य किसीको जानसे मार देनेके लिए शस्त्र चलाता है; परंतु किसी कारणवश उस मनुष्यके उस शस्त्रसे थोडी ही चोट आती है तो भी वह उस मारनेवालेको उसकी हत्याका पूर्ण पाप लग जाता है। इसीप्रकार कोई किसीको धमकानेके लिये हलकी चोट मारता है और किसी कारणसे वह चोट अधिकरूपमें लग जाती है तो भी उस मनुष्यको अधिक पापका भागी नहीं होना पडता, किंतु उसके हृदयमें जितनी चोट मारनेकी इच्छा थी उतने ही पापका भागी उसे होना पडता है। युद्धमें लाखों प्राणियोंकी हत्या होती है और मरने मारनेवाले योद्धाओंको अपनी अपनी कषायोंके अनुसार फल मिलता है तथापि उस युद्धकी समस्त हिंसाका पाप मुख्यतया राजाको लगता है। इसप्रकार अनेक जीवोंके द्वारा होनेवाली हिंसाका फल एक ही जीवको भोगना पडता है। किसी गुफामें मुनिराज विराजमान हैं। एक जंगली सूअर उनकी शांतमुद्रा देखकर पूर्वजन्मकी अवस्थाका स्मरण करता है और फिर नम्रभावसे मुनिराजके सामने बैठ जाता है। तदनंतर एक

सिंह उन मुनिराजको मारनेके लिये आता है। सूअर उसे रोकता है और उससे लडता है। लडते लडते दोनों मर जाते हैं। तथापि सूअरको स्वर्गकी प्राप्ति होती है और सिंहको नरक जाना पडता है। कहांतक लिखा जाय इस हिंसा और अहिंसाके अनेक विकल्प हैं और वे सब अपने अपने परिणामोंके आधीन हैं। यदि परिणामोमें रागद्वेष कषाय वा अन्य किसी प्रकारके विकार होते हैं तो उस हिंसाका पाप अवश्य लगता है। यदि अपने परिणामोंमें राग द्वेष, कषाय वा अन्य किसी प्रकारके विकार न हों तो उसको हिंसाका पाप कभी नहीं लग सकता। इसीलिये आचार्योंने हिंसाका लक्षण रागद्वेषका उत्पन्न होना बतलाया है, और अहिंसाका लक्षण रागद्वेषका सर्वथा अभाव होना बतलाया है।

इसी हिंसाका त्याग करनेके लिये मद्य, मांस, मधु, पीपरफल, वडफल, गूलर, अंजीर, पाकरफल, आलू अर्वी, मूली गाजर अदि सब प्रकारके कंदमूल, अचार, मुरब्बा, ओला, बरफ, दहीवडा, द्विदल, रात्रिभोजन, विना छना जल, बहुवीज, बेंगन, तुच्छफल, पुष्प, अनंतकाय, आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग किया जाता है। और इसी हिंसाका त्याग करनेके लिये उपवास ध्यान आदिके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तल्लीन होनेका प्रयत्न किया जाता है।

कहांतक कहा जाय, इस संसारमें हिंसाके अनेक साधन हैं। यह जीव हिंसाके ही कारण इस जन्म मरण रूप अनंत संसारमें परिभ्रमण किया करता है। उस अनंत संसारके परिभ्रमणको नष्टकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ही मुनिराज समस्त प्रकारकी हिंसाका त्याग कर अहिंसामहाव्रत धारण करते हैं। मुनियोंके अन्य जितने मूलगुण वा उत्तरगुण हैं वे सब इस अहिंसा महाव्रतकी रक्षा करनेके लिये ही समझना चाहिये। इस प्रकार अत्यंत संक्षेपसे अहिंसा महाव्रतका स्वरूप कहा।

अब आगे सत्यमहाव्रतका स्वरूप कहते हैं।

वाणीं विहाय कटुकां भवदामसत्यां।
मिष्टां ब्रवीति सुखदां छलवैरमुक्ताम्।
वंद्यः स एव वरसत्यमहाव्रतीति।
ज्ञान्येव चात्मरसिको भुवि भाग्यशीलः॥ २॥

अर्थ—जो पुरुष जन्म-मरणरूप संसारको बढाने वाले और कडवे ऐसे असत्य वचनोंका त्याग कर देता है। तथा छल, वैर आदि दोषोंसे रहित तथा समस्त जीवोंको सुख देनेवाले मिष्ट वचन कहता है वह ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ सत्य महाव्रती कहलाता है। ऐसा महापुरुष समस्त संसार में वंदनीय गिना जाता है, अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहनेवाला माना जाता है और भाग्यवान् गिना जाता है।

भावार्थ—सत्यमहाव्रत धारण करनेवाले पुरुषको राग, द्वेष, मोह, पैशून्य, ईर्ष्या आदिसे उत्पन्न होनेवाले असत्य वचनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इसका भी कारण यह है कि मुनि अवस्था धारण करनेपर राग, द्वेष, मोह, पैशून्य, ईर्ष्या आदि समस्त विकारोंका त्याग स्वयं हो जाता है तथा इनका त्याग होनेसे इनसे उत्पन्न होने वाले असत्य वचन कभी निकल ही नहीं सकते। अत एव मुनिराजोंके ऐसे असत्य वचनोंका त्याग स्वयं हो जाता है। यदि किसी मुनिराजके राग द्वेष आदिका त्याग न हो तो ऐसे पुरुषसे मुनि अवस्था कभी धारण ही नहीं हो सकती। राग द्वेषादिकका और मुनि अवस्थाका तो परस्पर विरोध है। जिसके राग द्वेषादिक विकार है वह मुनि नहीं है, और जो मुनि हैं उनके राग द्वेषादिक विकार नहीं हो सकते। अत एव मुनि अवस्था धारण करनेपर राग द्वेषादिक विकारोंसे उत्पन्न होनेवाले असत्य वचनोंका त्याग अपने आप हो जाता है। और इसीलिए उनका वह व्रत सत्यमहाव्रत कहलाता है। इसके शिवाय मुनियोंको अन्य प्राणियोंको संताप वा दुःख उत्पन्न करनेवाले सत्य वचनोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इसका भी कारण यह है कि अहिंसा महाव्रत की रक्षा करने के लिए सत्यमहाव्रत का पालन किया जाता है। असत्य वचनोंके कहनेसे दूसरोंको दुःख पहुंचता है वा दूसरोंकी

हानि होती है। इसीलिए असत्यवचनों का त्याग किया जाता है। यदि सत्यवचनोंके कहनेसे भी दूसरों को दुःख पहुंचे वा दूसरोंकी हानि हो तो फिर उन सत्य वचनोंको भी असत्य वचन ही कहना चाहिए। इसीलिए आचार्योंने सत्यमहाव्रतमें दूसरोंको दुःख देनेवाले वा पीडा पहुंचाने वाले सत्य वचनोंका भी त्याग कराया है। इसी प्रकार सत्यमहाव्रत पालन करनेवालोंको अयथार्थ वचनों का भी त्यागकर देना चाहिए। इस संसार में जीव, अजीव आदि जितने पदार्थ हैं उन सबका स्वरूप अनेक धर्मात्मक है। प्रत्येक पदार्थ अपने२ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्तिस्वरूप है, और परद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे वही पदार्थ नास्तिस्वरूप है। घट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे घट है। परन्तु अन्य पदार्थोंमें रहने वाले द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे घट नहीं है। जो यज्ञदत्त देवदत्तका मामा है वही यज्ञदत्त विष्णुदत्त का भानजा है। छोटे बच्चोंके स्नान करने योग्य जो थोडा गरम किया हुआ जल गरम कहलाता है वही गरम बहुत अधिक गरम जलकी अपेक्षासे ठंडा कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्वधर्म भी रहता है और नास्तित्व धर्म भी रहता है। एक ही पदार्थमें दोनों परस्पर विरोधी धर्म भी रहते हैं। इसीलिये प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व नास्तिस्वरूप वा उभयात्मक तीसरा धर्म भी रहता है। तथा

उन अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्मोंको एक साथ नहीं कह सकते। यदि दोनों धर्मोंको अनुक्रमसे एकसाथ कहते हैं जो जिसको पहले कहते हैं वह मुख्य माना जाता है और पीछे कहनेवाला धर्म अमुख्य माना जाता है। अत एव समानरूपसे दोनों धर्म एक साथ कहनेमें न आनेके कारण प्रत्येक पदार्थ अवक्तव्यस्वरूप है। तथा उसी पदार्थको जब कोई उसके अस्तित्वधर्मकी मुख्यताको लेकर अवक्तव्य धर्मको कहता है तब वह पदार्थ अस्ति अवक्तव्य स्वरूप कहलाता है। तथा नास्तित्वधर्मकी मुख्यताको लेकर अवक्तव्य धर्मको कहना नास्तिअवक्तव्यस्वरूप कहलाता है। और अस्तिनास्ति दोनोंकी अपेक्षाको लेकर अवक्तव्य धर्मको कहना अस्तिनास्तित्व अवक्तव्यस्वरूप कहलाता है। प्रत्येक पदार्थमें अनंतधर्म रहते हैं और प्रत्येक धर्मके ये ऊपर लिखे हुए सात भंग हो जाते हैं। इन सातों भंगोंमेंसे एक समयमें कोई एक भंग ही कहा जाता है परंतु अन्यभंग भी उसके साथ सूचित किये जाते हैं। उन अन्य भंगों को सूचित करने के लिए प्रत्येक भंगके साथ स्यात् शब्द लगाते हैं। तथा ये सातों भंग प्रत्येक पदार्थके सुनिश्चित रूपसे रहते हैं। इसलिए उन धर्मोंका निश्चितपना बतलाने के लिए प्रत्येक धर्मके साथ एव शब्द लगाते हैं। इस प्रकार स्यात् अस्ति एव घटः कथंचित् घट है ही, यह पहला भंग होता

है। स्यात् नास्ति एव घटः ‘ कथंचित् घट नहीं ही है ’ यह दूसरा भंग होता है। “ स्यात् अस्ति नास्ति एव घटः ” ‘ कथंचित् घट अस्ति नास्ति स्वरूप ही है ’ यह तीसरा भंग होता है। “ स्यात् अवक्तव्य एव घटः ” “ कथंचित् घट अवक्तव्य ही है ” यह चौथा भंग है। “ स्यात् अस्ति अवक्तव्य एव घटः ” ‘ कथंचित् घट अस्ति अवक्तव्य रूप ही है ’ यह पांचवा भंग होता है। “ स्यात् नास्ति अवक्तव्य एव घटः ” ‘ कथंचित् घट नास्ति अवक्तव्य रूप ही है ’ यह छठा भंग होता है। “ स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घटः ” ‘ कथंचित् घट अस्ति नास्ति तथा अवक्तव्य रूप ही है ’ यह सातवां भंग है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थका स्वरूप सप्तभंग स्वरूप ही होता है और यही पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप कहलाता है। इसके विपरीत जो पदार्थोंका स्वरूप कहना है वह सब अयथार्थ स्वरूप कहलाता है। इसी अयथार्थ स्वरूपको कहनेके वचनको अपरमार्थवचन कहते हैं। सत्यमहाव्रतको धारण करनेवाले मुनिराजके ऐसे अपरमार्थ वचन वा अयथार्थ वचन कहनेका सर्वथा त्याग होता है। इसका भी कारण यह है कि जब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप अनेक धर्मात्मक है तब किसी भी पदार्थको एक धर्मात्मक कहना असत्य ही कहलाता है। ऐसे असत्य वचनोंका त्याग कर देना सत्यमहाव्रत है। अथवा सूत्र वा अर्थके निरूपण

करनेमें अन्यथा वचन कहना असत्य है। सत्यमहाव्रतीको ऐसे असत्यका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। सूत्र वा अर्थका विपरीत अर्थ निरूपण करनेमें महापाप होता है। तीव्रमिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही विपरीत अर्थका निरूपण किया जाता है। इसीलिए विपरीत अर्थ का निरूपण करना अनंत संसारका कारण माना जाता है। सूत्रका विपरीत अर्थ समझनेमें विपरीत अर्थ समझनेवाले एक ही जीवका पतन होता है। परंतु विपरीत अर्थ निरूपण करनेमें अनेक जीवोंका पतन होता है। अतएव उन सबके पतनका पाप उस विपरीत अर्थनिरूपण करनेवालेको ही लगता है। विपरीत अर्थनिरूपण करनेसे परंपरातक के लिये जीवोंका पतन होता रहता है। इसीलिये इसको महा-पाप बतलाया है। सत्य महाव्रत धारण करनेवालोंको ऐसे महापापका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। मुनि-राजका हृदय अत्यंत शुद्ध होता है, इसीलिये ऐसा पाप उनसे कभी नहीं हो सकता। अत एव स्वभावसे ही उनके सत्यमहाव्रतका पालन होता है। इसी प्रकार वे मुनिराज किसीके लिये कटुक वचन भी कभी नहीं कहते हैं क्यों कि कटुक वचन भी संताप पहुंचानेके कारण असत्य ही माने जाते हैं। हां किसी जीवका पाप त्याग करानेके लिये वा उसे मोक्षमार्गमें लगानेके लिये वा उसके आत्माका कल्याण करनेके लिये किसीको कटुक वचन भी कहना

पडता है, परंतु उन कटुक वचनोंके कहनेमें न तो अपने आत्मामें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न होता है और न उससे किसी दूसरे जीवका अकल्याण होता है इसलिये ऐसे समयपर कहे हुए कटुकवचन असत्य नहीं कहलाते। इसी प्रकार वे मुनिराज किसी छलछिद्रसे भरे हुए वचन वा व्यंग्य वचन भी कभी नहीं कहते हैं और न किसीके साथ शत्रुताको द्योतन करनेवाले वचन कहते हैं। छलछिद्रके वचन वा शत्रुताको द्योतन करनेवाले वचन रागद्वेष वा ईर्ष्या आदिके कारणसे ही निकलते हैं और ऐसे वचनोंसे अन्य जीवोंका हृदय अवश्य दुखता है। इसलिए ऐसे वचन असत्य वचन ही गिने जाते हैं। और इसी कारण मुनिराज इनका सर्वथा त्याग कर देते हैं। वे मुनिराज सब जीवोंको सुख देनेवाले यथार्थ मिष्ट वचन ही कहते हैं। यही कारण है कि वे मुनिराज इस संसार में सबके द्वारा वंदनीय माने जाने जाते हैं। अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप को जानने वा मनन करनेके कारण ज्ञानी कहलाते हैं। अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंत-सुखरूपी रसमें सदा लीन रहते हैं और भाग्यशाली गिने जाते हैं। इस संसारमें पुण्यवान् पुरुषोंको ही भाग्यशाली कहते हैं। मुनिराज सदाकाल अपने पापोंका नाश करते रहते हैं महापुण्य कर्मोंका संपादन करते रहते हैं। इसलिए इस संसारमें उनके समान भाग्यशाली कोई नहीं हो

सकता। यही कारण है कि इन्द्रादिक देव भी उनके चरणोंमें आकर नमस्कार करते हैं। यह सब महाव्रतोंके पालन करनेका फल है। इस प्रकार संक्षेपसे सत्यमहाव्रतका स्वरूप कहा।

अब आगे अचौर्य महाव्रतका स्वरूप निरूपण करते हैं।

गृह्णात्यचौर्यनियमः पतितं ह्यदत्तं ।
नो विस्मृतं परधनं विषवद्व्यथादम् ।
पूज्यः स एव भुवने भुवनाधिपैर्यः ।
सन्तोषशांतिनिलये स्वपदे सुतृप्तः ॥ ४ ॥

अर्थ—अचौर्यमहाव्रतको पालन करनेवाले मुनिराज विषके समान दुःख देनेवाले पडे हुए, भूले हुए वा विना दिये हुए परधनको कभी ग्रहण नहीं करते हैं, और संतोष तथा शांतिके परमस्थान ऐसे अपने आत्माके शुद्धस्वरूप में सदा संतुष्ट रहते हैं। ऐसे वे मुनिराज इस संसार में तीनों लोकोंके इंद्रोंके द्वारा पूज्य माने जाते हैं।

भावार्थ—यदि किसी गांवमें, बाग–बगीचे में, वन में नगरमें वा अन्य किसी भी स्थानमें अपना कोई स्थूल सूक्ष्म वा थोडा बहुत पदार्थ भूल गया हो वा रख गया हो वा गिरा गया हो तो ऐसे परद्रव्यको मुनिराज कभी ग्रहण नहीं करते हैं। इसका भी कारण यह है कि गिरा

पड़ा वा भूला हुआ पदार्थ मुनिराजका नहीं है। मुनिराज अचौर्यमहाव्रत को पालन करते हैं। इसलिए वे विना दिया हुआ कोई भी द्रव्य कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं। इस में इतना और समझ लेना चाहिए कि वे मुनि समस्त परिग्रह के त्यागी भी होते हैं, अत एव यदि कोई पुरूष उनको भक्तिवश धन वा वस्त्र देता भी हो तो भी वे उसे न तो कभी ग्रहण करते हैं और न कभी ग्रहण करने की इच्छा करते हैं। समस्त प्रकारके अंतरंग और बहिरंग परिग्रहोंका त्याग करनेवाले उन मुनिराज के यह अचौर्य महाव्रत अपने आप पळ जाता है। यही कारण है कि वे मुनिराज किसी दूसरेके खेत, मकान, धन, धान्य, पुस्तक उपकरण और विद्यार्थी तकको अपना नहीं बनाते हैं। मुनिराज तो मोह वा ममत्वका सर्वथा त्याग कर देते हैं। यहांतक कि अपने शरीरको भी वे अपना नहीं समझते। वे शरीरको अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न पौद्गलिक समझते हैं और इसीलिए वे उससे किंचित् मोह भी नहीं करते। ऐसे वे मुनिराज परपदार्थोंको अपना कैसे बना सकते हैं। अत एव उनके स्वभावसे ही अचौर्यमहाव्रत का पालन होता है। इस प्रकार संक्षेपसे अचौर्यमहाव्रत का स्वरूप कहा।

अब आगे ब्रह्मचर्यमहाव्रतका स्वरूप कहते हैं—

संसारमूलं ललनेति बुध्द्वा ।
त्यक्त्वा ततस्तां रमते स्वधर्मे ।

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुः ।
संसारसिंधोः परिपारकर्ता ॥ ५ ॥

अर्थ— इस संसारमें जन्ममरणरूप संसारका मूल-कारण स्त्रियां ही हैं, यही समझकर जो समस्त प्रकारकी स्त्रियोंका त्याग कर अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन रहते हैं, और शत्रु वा मित्र सबको समान समझते हैं ऐसे वे मुनिराज ब्रह्मचर्यमहाव्रतको पालन करनेवाले कहे जाते हैं। तथा इसीलिये वे मुनिराज इस संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाले माने जाते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें सबसे अधिक मोह स्त्रीसे होता है। स्त्रीका मोह छूटना अत्यंत कठिन है। पुत्र मित्र आदि सबका मोह छूट जाता है परंतु स्त्रीका मोह बडी कठिनतासे छूटता है। देखो! मुनिराज पुष्पडाल बारह वर्षके दीक्षित थे। तथापि उनका मोह स्त्रीसे लगा ही रहा था अंतमें वह स्त्रीका मोह मुनिराज वारिषे-णने छुडाया था। इससे भी सिद्ध होता है कि स्त्रीका मोह सबसे अधिक होता है। इसीलिये स्त्रीको संसारका कारण बतलाया है। वे स्त्रियां तीन प्रकारकी होती हैं बालक, यौवन और वृद्ध। वे तीनों प्रकार की स्त्रियां देवोंकी होती हैं, मनुष्योंकी होती है और तिर्यंचों की होती हैं। तथा इन सब स्त्रियोंके चित्र भी और लेप भी होते हैं। मुनिराज इन सब स्त्रियोंको पुत्री, बहिन और

माताके समान देखते हैं। वृद्धा स्त्रियोंको माताके समान देखते हैं, यौवनवती स्त्रियोंको बहिनके समान देखते हैं और बालकास्त्रियोंको पुत्रीके समान देखते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज स्त्रियोंसे संबंध रखने वाली सब प्रकार की कथाओंके कहने सुनने का त्याग कर देते है, भोजन संबंधी कथाओंके कहने सुनने का त्याग कर देते हैं, चोरोंकी कथाओंके कहने सुननेका त्याग कर देते हैं। और राजकथाओंके कहने सुननेका त्याग कर देते हैं। इन कथाओंके कहने सुनने में वे किंचित्‌मात्र भी रागादिक भाव नहीं रखते। अथवा स्त्रीकथाके कहने सुननेका सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनके कोमल वचनोंके सुननेका त्याग कर देते हैं, उनके कोमल शरीर के स्पर्श करनेका त्याग कर देते हैं, उनके सुंदर रूपको देखनेका त्याग कर देते हैं, उनके नृत्य देखनेका त्याग कर देते हैं, उनके गीत सुननेका सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनके हास्य वा मुस्कान देखनेका सर्वथा त्याग कर देते हैं, और उनके कटाक्षोंके देखनेका सर्वथा त्याग कर देते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज ऊपर लिखी हुई समस्त स्त्रियोंका तथा तत्संबंधी समस्त विकारोंका त्याग कर देते हैं और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जाते हैं।

ब्रह्म शब्दका अर्थ शुद्ध आत्मा है। इसीको परमब्रह्म वा परमात्मा कहते हैं। जो परमब्रह्मस्वरूप शुद्ध आत्मामें

जो विचरण करना है, लीन होना है उसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं। मुनिराजोंका ऐसा यह परमब्रह्मचर्य तीनों लोकोंके देव इन्द्र मनुष्य आदि सबके द्वारा पूज्य होता है। इस प्रकारके ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले वे मुनिराज शत्रु मित्र आदि सबको समान देखते हुए सर्वोत्कृष्ट समता भाव धारण करते हैं, और इसीलिये वे मुनिराज इस संसाररूपी समुद्रको पारकर सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्थानमें जा विराजमान होते हैं।

परमागममें इस ब्रह्मचर्यको घात करनेवाले दश कारण बतलाये हैं। स्त्रियोंके साथ राग करना, पांचों इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले पौष्टिक आहार करना और उनको भी गृद्धतापूर्वक ग्रहण करना, इतर फुलेल आदि सुगंधित द्रव्योंसे और मालती चंपा आदि सुगंधित पुष्पोंसे शरीरको सुशोभित करना वा शरीरका संस्कार करना, कोमल रुईके गद्दोंपर सोना वा कोमल आसनोंपर बैठना, मुकुट हार, कंकण आदि आभूषणोंसे शरीर को अधिक सुसज्जित करना अथवा इस प्रकार शरीरको सज्जित कर विषय सेवन की आकांक्षा करना, रागभावोंकी तीव्रताके कारण सुंदर गीत गाना वा सुनना वा वंशी, मृदंग, सारंगी, सितार आदि सुंदर बाजे बजाना वा सुनना, अधिक धनका होना वा संग्रह करना, असदाचारी कुत्सित मनुष्योंकी संगतिमें रहना, विषयोंकी आकांक्षासे राजा-

ओंके समीप रहना वा उनकी सेवा करना और रात्रि में इधर उधर घूमना ये दश ब्रह्मचर्यको घात करनेवाले हैं।

इस ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए नौ बाढ हैं। स्त्रियोंके साथ निवास नहीं करना १। विकारभावोंसे स्त्रियोंके रूप वा श्रृंगार को नहीं देखना २। स्त्रियोंसे भाषण नहीं करना अथवा रागादिकभावोंसे उनके मधुर वचन नहीं सुनना ३। पहले भोगी हुई स्त्रियोंका स्मरण नहीं करना ४। कामको उद्दीपन करनेवाले घी, दूध, सुवर्ण-भस्म आदि पौष्टिक पदार्थोंका सेवन न करना ५। स्त्रियोंके श्रृंगार शास्त्रोंको न सुनना न पढना ६। स्त्रियोंके आसनपर नहीं बैठना वा उनकी शय्यापर नहीं सोना ७। कामकथा का न कहना न सुनना ८। भरपेट भोजन नहीं करना ९। ये ब्रम्हचर्यकी रक्षा करनेवाली बाढ हैं।

इस ब्रह्मचर्यके अठारह हजार भेद हैं यथा—देवांगना, मनुष्याणी और तिर्यंचिनी ऐसे स्त्रियोंके तीन भेद हैं। तथा एक भेद उसका चित्र वा प्रतिमा है। इस प्रकार स्त्रियोंके चार भेद होते हैं। इनका त्याग मनसे वचनसे कायसे किया जाता है। इसलिए ब्रम्हचर्यके बारह भेद होते हैं। तथा मन वचन कायसे चारों प्रकारकी स्त्रियों का त्याग कृत कारित अनुमोदनासे किया जाता है। अर्थात् बारह प्रकारका त्याग स्वयं किया जाता है, दूसरों से कराया जाता है और उसकी अनुमोदना का त्याग

किया जाता है । इस प्रकार अब्रह्म त्याग के छत्तीस भेद होते हैं। इन छत्तीसों प्रकार का त्याग स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पांचों इंद्रियोंसे किया जाता है । इसलिए उस त्याग के एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं । अब्रह्म त्यागके एकसौ अस्सी भेद दश प्रकारके संस्कारोंके त्यागपूर्वक किये जाते हैं इसलिए त्यागके अठारह-सौ भेद हो जाते हैं । उन दश संस्कारोंके नाम ये हैं— स्नान उवटन लगाना १ शृंगार करना २ राग बढानेवाले कार्य करना ३, हंसी विनोदसे क्रीडा करना ४ गाना बजाना ५ विषय सेवनका संकल्प करना ६ दर्पणमें मुख देखना ७ शरीरकी शोभा बढाना ८ पहले भोगी हुई स्त्रियोंका स्मरण करना ९ मन में चिंता रखना १० इन दशों संस्कारोंके त्याग के साथ ब्रह्मचर्यके सब भेद पालन किये जाते हैं, तथा अब्रह्म त्याग के ये सब अठारह सौ भेद कामके दश वेगोंके त्यागके साथ किये जाते हैं । अत एव उस ब्रह्मचर्य के अठारह हजार भेद हो जाते हैं । वे काम के दश वेग ये हैं—स्त्रीके मिलनेकी चिंता होना १ स्त्रीके देखने की इच्छा होना २ दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेना ३ उन्मत्त हो जाना ४ अपने प्राणोंमें भी संदेह करना ५ वीर्यपात हो जाना ६ दुःख वा पीडा होना ७ कामज्वर वा दाह होना ८ अन्नमें अरुचि होना९ और मूर्च्छा आना १०।

इन सब भेदोंको सूचित करनेवाला यंत्र इस प्रकार है।

शीलके अठारह हजार भेद.

नष्ट उद्दिष्ट द्वारा प्रत्येक भेदके निकालने का यंत्र.

तिरश्ची १	मानुषी २	देवांगना ३	प्रतिमा ४	चार प्रकार की स्त्रियां						
मन ०	वचन ४	काय ८	योगोंसे त्याग							
कृत ०	कारित १२	अनुमोदना २४	कृत कारित अनुमोदनासे त्याग							
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४	पांचों इंद्रियोंसे त्याग					
स्नान ०	श्रृंगार १८०	रागवर्द्धक ३६०	हंसी वि. ५४०	संगीत ७२०	विश्र ९००	दर्पण १०८०	शोभा १२६०	स्मरण १४४०	चिंता १६२०	१० संस्कारोंसे त्याग
मिलाप ०	देखना १८००	दीर्घश्वास ३६००	उन्मत्त ५४००	प्राणसंदेह ७२००	वीर्यपात ९०००	दुःख १०८००	दाह १२६००	अरुचि १४४००	मूर्च्छा १६२००	१० वेगसे त्याग

दूसरा यंत्र.

मन १	वचन २	काय ३							
कृत ०	कारित ३	अनुमोदना ६							
आहार ०	भय ९	मैथुन १८	परिग्रह २७						
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४					
पृथ्वीकाय ०	अप्काय १८०	तेजस्काय ३६०	वायुकाय ५४०	वनस्पति ७२०	दोइंद्रिय ९००	ते इंद्रिय १०८०	चौइंद्रिय १२६०	पंचेंद्रिय असंज्ञी १४४०	पंचेंद्रिय संज्ञी १६२०
क्षमा ०	मार्दव १८००	आर्जव ३६००	शौच ५४००	सत्य ७२००	संयम ९०००	तप १०८००	त्याग १२६००	आकिंचन्य १४४००	ब्रह्मचर्य १६२००

दूसरे यंत्रका खुलासा इस प्रकार है। स्त्री मात्रका त्याग मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे होता है। इसलिए उस त्यागके नौ भेद होते हैं। इन नौका त्याग आहार,भय मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञाओंके त्याग पूर्वक किया जाता है इसलिये उस त्यागके छत्तीस भेद होते हैं। इन छत्तीसोंका त्याग पांचों इन्द्रियोंसे किया जाता है अत एव उस त्यागके एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं। ये एकसौ अस्सी त्याग पृथ्वीकायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंके आरंभके त्यागपूर्वक किया जाता है अत,एव उस सब त्यागके अठारहसौ भेद हो जाते हैं। तथा यह अठारहसौ प्रकारका ब्रह्मचर्य उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंके साथ पालन किया जाता है। इस लिये उस ब्रह्मचर्यके अठारह हजार भेद हो जाते हैं।

अथवा स्त्रियोंके दो भेद हैं, चेतन और अचेतन। अचेतन स्त्रियोंके तीन भेद हैं, काठकी बनी, पत्थरकी बनी और रंगकी बनी। इनका त्याग मन वचन दोनोंसे होता है। शरीरसे इनका त्याग स्वयं सिद्ध है करना नहीं पडता। तथा मन वचन का त्याग कृत

कारित अनुमोदनासे होता है, इसलिए उस त्यागके अठारह भेद होजाते हैं। तथा यह सब त्याग पांचों भावेंद्रियोंसे और पांचों द्रव्येंद्रियोंसे होता है; अतएव उस त्यागके एक सौ अस्सी भेद होजाते हैं। तथा वह त्याग क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंके त्यागपूर्वक होता है इसलिए उस त्यागके सातसौ बीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार अचेतन स्त्रियोंके त्यागके सातसौ बीस भेद होते हैं।

चेतन स्त्रियां देवी मानुषी तिर्यंचिनीके भेदसे तीन प्रकार हैं। इनका त्याग मन, वचन,काय, और कृत कारित अनुमोदनासे होता है। इसलिए उस त्याग के सत्ताईस भेद होते हैं। वह सत्ताईस प्रकारका त्याग पांचों भावेन्द्रिय और पांचों द्रव्येन्द्रियोंसे किया जाता है इसलिये उसके दोसौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इनका त्याग चारों संज्ञाओं के त्यागपूर्वक किया जाता है। इसलिए उस त्याग के सब भेद दस सौ अस्सी हो जाते हैं। यह सब त्याग सोलह कषायोंके त्यागपूर्वक किया जाता है,अत एव उस सब त्यागके सत्तर हजार दो सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। यह सब चेतन स्त्रियोंके त्यागके भेद हैं। इनमें अचेतन स्त्रियोंके त्यागके सातसौ बीस भेद मिला देनेसे समस्त स्त्रियोंके त्यागके अठारह हजार भेद होजाते हैं। मुनिराज इन सब ब्रम्ह-

चर्यके भेदोंका पालन करते हैं। इसलिए वे पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले परमब्रह्म वा ब्रह्मचर्यमहाव्रती कहलाते हैं। ऐसे ब्रह्मचर्य को पालन करनेवाले वे मुनिराज अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप कहा ।

अब आगे परिग्रह त्याग महाव्रतका स्वरूप कहते हैं।

सर्वात्मतापजनकं कलहप्रदं तं ।
संगं द्विधापि सकलं विषमं व्यथादम् ।
त्यक्त्वेति छर्द्दिमिव सौख्यमये स्वधर्मे ।
साधुःस तिष्ठति सदाखिलसंगत्यागी ॥ ६ ॥

अर्थ— परिग्रहके दो भेद हैं, एक अंतरंगपरिग्रह और दूसरा बहिरंगपरिग्रह। ये दोनों ही प्रकारके परिग्रह समस्त जीवोंको संताप उत्पन्न करनेवाले हैं, परस्पर कलह उत्पन्न करनेवाले हैं, अत्यंत विषम हैं और अत्यंत दुःख देनेवाले हैं। इसीलिये मुनिराज वमन किये घृणितपदार्थके समान उस समस्त परिग्रहका त्याग कर देते हैं और अनंत सुखमय अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहते हैं। ऐसे वे मुनिराज समस्तपरिग्रहके त्यागी अथवा परिग्रहत्याग महाव्रतको धारण करनेवाले कहे जाते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्व, स्त्रीवेदजन्यराग, पुंवेदजन्य राग, नपुंसकवेदजन्य राग, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। तथा बाह्यपरिग्रहके दो भेद हैं। एक चेतनात्मक परिग्रह और दूसरा अचेतनात्मक परिग्रह। खेत, मकान, धन, धान्य, शयन, आसन, सवारीके साधन, बर्तन आदि सब अचेतन परिग्रह हैं। तथा दासी, दास और गाय, भैंस, घोडा आदि चतुष्पद सब चेतनात्मक परिग्रह हैं। इस प्रकार बाह्य परिग्रहके दस भेद हैं। अथवा मोती, शंख, सीप, हाथीदांत, कंबल आदि सब प्राणियोंसे उत्पन्न होनेवाले परिग्रह हैं, क्रोध, मान आदि अंतरंग परिग्रह भी जीवोंसे उत्पन्न होने वाले परीग्रह हैं। खेत मकान आदि सब सर्वथा अचेतनात्मक परिग्रह हैं। इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंके धारण करनेसे हिंसा अवश्य होती है। अंतरंग परिग्रहोंसे तो आत्माके शुद्ध परिणामोंका घात होनेसे हिंसा होती ही है। तथा बाह्य परिग्रह बिना मूर्च्छा वा ममत्व परिणामोंके हो नहीं सकते और मूर्च्छा वा ममत्व परिणाम आत्माका घात करनेवाले हैं। अतएव परिग्रहसे अवश्य ही हिंसा होती है। यह निश्चित है कि इस संसारमें जितना जितना परिग्रह बढता जाता है उतनी ही हिंसा बढती जाती है। एक घोडा गाडीके रखने से जितनी हिंसा होती है दस घोडा

गाडियोंके रखनेसे उससे दस गुने जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है। इससे सिद्ध होता है कि जितना परिग्रह अधिक होता है उतनी ही हिंसा अधिक होती है तथा जितना परिग्रह कम होता है, उतनी ही हिंसा कम होती है। मुनिराज समस्त परिग्रहका त्याग कर देते हैं इसलिये उनके पूर्ण हिंसाका त्याग हो जाता है। परिग्रहकी हीनाधिकता मूर्च्छा वा ममत्व परिणामोंकी हीनाधिकतापर निर्भर है। जिसके अधिक मूर्च्छा वा ममत्व है उसके अधिक परिग्रह समझना चाहिये। और जिसके कम ममत्व है उसके कम परिग्रह समझना चाहिये। हिरण घास चरता है परंतु किसीका थोडासा भी आहट सुनते ही भाग जाता है और बिल्ली चूहे खाती है और ऊपरसे मार पडनेपर भी उसे नहीं छोडती। इस उदाहरणसे हिरणमें कम मूर्च्छा सिद्ध होती है क्यों कि वह घास तो चरता है और थोडासा भी कारण मिलनेपर उसे छोड देता है, परंतु बिल्ली जीव घात कर पेट भरती है और मार पडनेपर भी उसे नहीं छोडती। इसमें उसके ममत्वकी तीव्रता ही कारण है। जीवोंके ममत्व परिणामोंमें हीनाधिकता होती ही है। जैसे दूधमें मिठास कम होता है और खांड में मिठास अधिक होता है। इसी प्रकार किसीमें मूर्च्छा वा ममत्व परिणाम कम होता है और किसीमें ज्यादा होता है। जिसमें जितना मूर्च्छा वा ममत्व होता है, उसके उतना ही परिग्रह गिना जाता है।

जिस किसी भिक्षुक के पास खाने पहने तकको नहीं है यदि वह संसार भरका राज्य प्राप्त करने की इच्छा रखता है तो वह सबसे अधिक परिग्रही समझा जाता है। अत एव सबसे पहले ममत्व परिणामोंका त्याग करना चाहिए। ममत्व परिणामोंका सर्वथा त्याग होनेसे ही परिग्रहका सर्वथा त्याग हो सकता है। परिग्रहकी तो बात ही क्या है ? मुनिराज अपने शरीरसे भी ममत्व नहीं रखते। उसको भी अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न पौद्गलिक समझते हैं। इसीलिए वे सब प्रकारके उपसर्ग और परीषहोंको सहन करते हैं। और इसीलिए उनके परिग्रहत्यागमहाव्रत पूर्ण रीतिसे पलता है।

यद्यपि मुनिराज संयमको पूर्णरीतिसे पालन करनेके लिये पीछी रखते हैं, ज्ञानकी वृद्धिके लिये शास्त्र रखते हैं और शौचशुद्धि करनेके लिये कमंडलु रखते हैं। ये तीनों संयम, ज्ञान, शौचके उपकरण हैं और ज्ञान संयमकी वृद्धिके लिये रखने पडते हैं, तथापि वे मुनिराज उनसे किंचित् मात्र भी ममत्व नहीं रखते। जो मुनिराज अपने शरीरतकसे ममत्व नहीं रखते वे भला पीछी कमंडलुसे ममत्व कैसे रख सकते हैं ? । इसीलिये उन मुनिराजके परिग्रह त्याग महाव्रत पूर्ण रीतिसे पलता है।

इस संसारमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये ही पांच पाप कहे जाते हैं। संसारमें अन्य जितने पाप हैं

वे सब इन्हींमें अंतर्गत होते हैं। तथा मुनिराज पूर्णरीतिसे इन पांचो पापोंका त्याग कर देते हैं। इसीलिये उनके ऊपर लिखे अनुसार पांचों महाव्रत पूर्णरीतिसे पलते हैं तथा सब प्रकारके पापोंका पूर्ण त्याग हो जानेके कारण मुनिराज शीघ्र अपने कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे परिग्रहत्यागमहाव्रतका स्वरूप कहा।

अब आगे पांचो महाव्रतोंके स्वरूपको समाप्त करनेके लिये कहते हैं।

स्वात्मोत्थसौख्यजनकस्य मुनेः स्वरूपं।
प्रोक्तं मयेति वरपंचमहाव्रतानाम्।
सत्यार्थसाधुपदवीप्रतिबोधनार्थं।
श्रीकुंथुसिंधुविभुनात्मरतेन नित्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपने आत्माके शुद्धस्वरूप में सदाकाल लीन रहनेवाले मुझ आचार्य श्रीकुंथुसागर स्वामीने साधुओंके यथार्थ स्वरूपको समझानेके लिए अपने आत्मजन्य सुखको प्रगट करनेवाले मुनियोंके श्रेष्ठ पांचों महाव्रतोंका स्वरूप कहा है।

भावार्थ—यह ऊपर लिखा हुआ पांचों महाव्रतोंका स्वरूप आचार्यवर्य, श्रीकुंथुसागरस्वामीका कहा हुआ है।

यह पांचों महाव्रतोंका स्वरूप साधुओंके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेके लिये है अर्थात् जो महापुरुष इन पांचों महाव्रतोंको पूर्णरीतिसे पालन करता है वही महापुरुष यथार्थ साधु हो सकता है, अन्यथा नहीं । अथवा इन पांचों महाव्रतोंको यथार्थ साधु ही पालन कर सकते हैं । वे अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंतसुखको अवश्य प्राप्त होते हैं । इस प्रकार पांचों महाव्रतोंका स्वरूप निरूपण किया ।

अब आगे पांचों समितियोंके स्वरूपको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

सूक्ष्मादिजन्तुनिवहप्रतिपालनार्थं ।
साधोश्च पंचसमितेः सुखदं स्वरूपम् ।
स्वानन्दसौख्यजनकं परमं पवित्रं ।
स्वर्मोक्षदं भवहरं सुनिरूप्यतेऽद्य ॥ ८ ॥

अर्थ-पांचों समितियोंके पालन करनेसे समस्त जीवोंकी रक्षा होती है। अत एव सूक्ष्म वा स्थूल जीवोंकी रक्षा करनेके लिए साधुओंकी पांचों समितियोंका स्वरूप निरूपण करते हैं । इन पांचों समितियोंका स्वरूप समस्त जीवोंको सुख देनेवाला है, आत्मजन्य परमानंद वा अनंत सुखको प्रगट करनेवाला है, परमपवित्र है, जन्ममरण रूप

संसार को नाश करनेवाला है और स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है।

भावार्थ—मुनिराज जो गमन, आगमन, चर्या, शौच, आदि की क्रियायें करते हैं उन में अनेक जीवोंको बाधा पहुंच सकती है। परन्तु वे परम दयालु मुनिराज किसी जीवको बाधा पहुंचाना नहीं चाहते, और इसीलिए वे अपनी सब क्रियाओंमें समितियोंका पालन करते हैं। " अपनी समस्त क्रियाओंको इस प्रकार करना जिससे कि किसी भी जीवको बाधा न पहुंचे " यही समिति शब्दका अर्थ है। वे समितियां पांच हैं। ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति।

अब आगे ईर्यासमितिका स्वरूप कहते हैं।

मार्गं चतुर्हस्तमपीतिपश्यन्!
मत्वात्मतुल्यान् सकलांश्च जीवान्।
रक्षन्निजानन्दपदं वृषार्थं
यो याति भव्यः स पातिः समित्याः॥ ९॥

अर्थ—जो भव्य मुनिराज अपने आत्मजन्य अनंत-सुखकी रक्षा करते हुए केवल धर्मकार्यके लिए गमन करते

करते हैं और उस गमनमें भी समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान मानकर चार हाथ प्रमाण मार्गको देखते हुए गमन करते हैं ऐसे वे मुनिराज ईर्यासमिति के स्वामी कहे जाते हैं।

भावार्थ—मुनिराज तीर्थयात्राके लिए गमन करते हैं, गुरु वा आचार्यके दर्शन करनेके लिये गमन करते हैं अथवा गुरुके किसी कार्यके लिये वा शास्त्रश्रवण करनेके लिये गमन करते हैं अथवा आहार ग्रहण करने वा शौच आदि अपने कार्यकेलिये गमन करते हैं परंतु वे मुनिराज ऐसी पृथ्वीपर गमन नहीं करते जो गीली हो, जिसपर कीचड वा हरी काई हो, जिसपर जल भरा हो, वा फल फूल बिछे हों, वा अंकुर जम रहे हों, जिसपर सेना चल रही हो वा युद्ध हो रहा हो, जिसपर प्राणी हों वा बीज फैले हों, ऐसी पृथ्वीपर वे मुनिराज कभी गमन नहीं करते हैं। अथवा जो मार्ग ईंट,पत्थर,लकडी, मिट्टी आदिसे बनाया गया हो, जो मार्ग ऊंचा नीचा हो, जो चल हो अर्थात् जिसे चाहे जहां उठाकर रख दे सकें, जिसमार्गमें किसी प्रकारका संदेह हो, अथवा यह मार्ग है वा नहीं ऐसा जिसमें संदेह हो, जिसमें गिर पडनेका संदेह हो वा जिसमें असंयमका कारण दिखाई पडता हो, ऐसे मार्गमें भी वे मुनिराज कभी गमन नहीं करते हैं। वे मुनिराज राजमार्गसे वा सर्वसाधारण जनताके मार्गसे ही गमन करते हैं। तथा प्रासुक मार्गसे

गमन करते हैं। जो मार्ग रथ, गाडी, घोडे, गाय, भैंस वा मनुष्योंके चलनेसे मर्दित हो चुका है, जिसमेंसे रात्रिमें फिरनेवाले प्राणी चले गये हैं वा जिसमेंसे ओसके जाल दूर होगये हैं और जिसमें सूर्यकी किरणोंसे जानने योग्य समस्त पदार्थ दिखाई पड जाते हैं ऐसे मार्गको प्रासुकमार्ग कहते हैं। ऐसे ही मार्गसे मुनिराज गमन करते हैं। वे मुनिराज क्वचित् ठहरकर चारों दिशाओंको देखते हुए धीरे धीरे गमन करते हैं और शरीर प्रमाण वा चार हाथ भूमिको देखते हुए गमन करते हैं, जिससे कि उनके द्वारा किसी जीवको किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। वे मुनिराज न तो शीघ्रताके साथ गमन करते हैं और न बहुत धीरे धीरे गमन करते हैं, किंतु हाथीके साथ मंदरीतिसे गमन करते हैं। मुनिराजके इस प्रकार गमन करनेको ईर्यासमिति कहते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुनिराज सूर्य चढ आनेके अनंतर ही गमन करते हैं, रात्रिमें वा अंधेरेमें गमन नहीं करते। तथा धर्मकार्यके लिये ही गमन करते हैं और उसमें भी अपने आत्माके शुद्धस्वरूपकी रक्षा अवश्य करते रहते हैं। वे मुनिराज संसारके समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान ही मानते हैं इसीलिये वे बडे प्रयत्नके साथ समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं। जिस मार्गमें जीव रहते हैं उस मार्गको वे छोड देते हैं। यदि किसी प्रासुक

मार्गमें भी आगे चलकर जीव मिल जाय तो उनसे बच-कर गमन करते हैं। यदि किसी भी प्रकार बचकर निकलने का स्थान न हो तो फिर पींछीसे उनको हटाकर निकल जाते हैं। उनको किसी प्रकार भी बाधा नहीं पहुंचने देते। इस प्रकारके गमन करनेको ईर्यासमिति कहते हैं।

जब वे मुनि तीर्थयात्राके लिए गमन करते हैं वा गुरुदर्शनके लिए जाते हैं वा गुरुके किसी कामके लिए जाते हैं तब तो वे नियमानुसार छोटे गांवमें एक दिन और बडे गांव वा शहरमें पांच दिन ठहरते हैं। परंतु यदि वे साधारणरीतिसे विहार करते हैं और मध्यमें कोई विशेष कारण उपस्थित हो जाता है, बहुत अधिक ठंड पडने लगती है, वा बहुत अधिक गर्मी पडने लगती है, वा शरीर अस्वस्थ हो जाता है अथवा किसीके समाधिमरणमें सहा-यता पहुंचाने लगते हैं अथवा धर्मवृद्धि वा ज्ञानवृद्धि का कोई विशेष साधन मिल जाता है तो मुनिराज किसी एक ही स्थानमें एक महीने तक रह सकते हैं। इससे अधिक सिवाय चातुर्मास योगधारणके और किसी कारण से नहीं रहते।

अब आगे भाषासमितिका स्वरूप कहते हैं।

निन्दादिमुक्ता दशधा कुभाषा।
मुक्त्वाऽप्रिया वैरविरोधमूलाः।

हिता मिता धर्मयुता सुसत्याः ।
ब्रूयान्मिथः शान्तिकराः सदैव ॥ १० ॥

अर्थ— वे मुनिराज अप्रिय और वैर विरोधके मूल कारण ऐसे निंदादिकसे भरे हुए दश प्रकारके कुवचनोंको कभी नहीं कहते हैं। तथा हित करनेवाले, परिमित, धार्मिक और परस्पर शांति उत्पन्न करनेवाले यथार्थवचन ही सदा कहते हैं। इस प्रकारके वचन कहना भाषा समिति है।

भावार्थ— कर्कश, कटुक, कठिन, निष्ठुर, दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाली, मध्यकृशा, मानिनी, अभयंकरी छेदंकरी और भयंकरी ये दश प्रकारकी भाषाएं कुभाषाएं कहलाती हैं। मुनिराज ऐसी भाषाका प्रयोग कभी नहीं करते हैं। इनके सिवाय मिथ्याकथन, ईर्ष्याके वचन, अप्रियवचन, अनेक प्रकारके वाग्जालमे भरे हुए वचन, असार वचन, संदेहयुक्त वचन, भ्रमसे भरे हुए वचन, कषाययुक्त वचन १ हंसीके वचन, अयोग्य वचन, असभ्य वचन, निष्ठुर वचन, अधार्मिक वचन, तथा और भी इसी प्रकारके वचन मुनिराज कभी नहीं कहते हैं। वे मुनि-राज वैर विरोध बढानेवाले वचन भी कभी नहीं कहते हैं। इसी प्रकार वे मुनिराज दूसरोंके गुणोंको असहन करनेवाले वचन,अपनी प्रशंसा करनेवाले

वचन और चारों प्रकार की विकथाओंके वचन कभी नहीं कहते हैं। वे मुनिराज सदाकाल अपने आत्माका कल्याण करनेवाले तथा अन्य जीवोंका कल्याण करनेवाले सबके हितरूप वचन बोलते हैं। जिनके बोलनेसे किसी भी प्रकारके कर्मोंका बंध न हो। इसके सिवाय वे मुनिराज परिमित शब्द कहते हैं। जितने शब्दोंसे काम चल जाय उतने ही शब्द कहते हैं अधिक वा व्यर्थ शब्द नहीं कहते। तथा धार्मिक और परस्पर शांति प्रगट करनेवाले सत्य वचन ही कहते हैं।

अथवा भाषाके चार भेद हैं सत्य, असत्य उभय, अनुभय। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करनेवाली भाषा सत्यभाषा है जैसे घडेको घडा कहना। पदार्थ के विपरीत स्वरूप को कहनेवाली भाषा असत्य भाषा है। जैसे बालू के समुदाय को पानी कहना अथवा पदार्थोंका स्वरूप सर्वथा नित्य वा अनित्य ही मानना। विवक्षित धर्मसे सत्य और अविवक्षित धर्मसे असत्य इस प्रकार उभय-रूप वचन कहना उभयरूप भाषा कहलाती है। जैसे पानी भरनेके कारण कमंडलुको भी घडा कहना। यद्यपि कमंडलु घडा नहीं है तथापि पानी भरने रूप घडेका काम उससे लिया जाता है इसलिए उसको उभयरूप वचन कहते हैं। जिस भाषाको न सत्य कह सकें और न असत्य कह सकें ऐसी भाषाको अनुभय वचन कहते है।

इस अनुभय वचनके अनेक भेद हैं। जैसे किसीको बुलानेके लिए संबोधन करना आमंत्रिणी भाषा है जैसे देवदत्तको बुलानेके लिये हे देवदत्त कहना। किसीके लिये आज्ञारूप वचन कहना आज्ञापिनी भाषा है। जैसे इस कामको शीघ्र करो। मांगनेके वचन कहना याचना भाषा है। जैसे आप कृपाकर यह ग्रंथ दे दीजिये। किसीसे प्रश्न करना आपृच्छिनी भाषा है। जैसे जीव किसे कहते हैं? निवेदन करनेरूप वचन कहना प्रज्ञापना भाषा है। जैसे हे गुरो! मुझे पढनेकी आज्ञा दीजिये। त्याग करनेके वचन कहना प्रत्याख्यानी भाषा है। जैसे मैं यह त्याग करता हूं। संशयरूप वचन कहना संशयरूप भाषा है। जैसे अरे! यह क्या है? इच्छानुकूल वचन कहना इच्छानुलोमवचन हैं। जैसे मैं तुम्हारे इष्ट पदार्थकी ही पुष्टि करूंगा। बालक आदिके तथा असेनी जीवोंके वचन अनक्षर वचन कहलाते हैं। ये सब वचन स्पष्ट नहीं होते इसलिए इनको सत्य नहीं कह सकते तथा इनका वाच्य कुछ न कुछ होता ही है। अत एव इनको असत्य भी नहीं कह सकते। अतएव इन सबको अनुभय कहते हैं। इनमेंसे मुनिराज सत्य वचन और थोडेसे अनुभय वचन कहते हैं। इस प्रकारके हित मित और असंदिग्ध वचन कहना भाषासमिति कहलाती है। इस प्रकार संक्षेपसे भाषा समितिका स्वरूप कहा।

अब आगे एषणासमितिका स्वरूप कहते हैं।

दोषांतरायरहितं विधिनार्पितान्नं
खादन् सदा निजफलं स्वरसं पिबन् यः।
ज्ञानात्मकेऽस्त्यनुपमे स्वपदे स लीनः
पूतैषणासमितिनायक एव वंद्यः ॥ ११ ॥।

अर्थ—जो मुनिराज छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतरायोंको टालकर विधिपूर्वक समर्पण किया हुआ अन्न ग्रहण करते हैं तथा जो मुनिराज अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले चिदानंदस्वरूप रसका पान सदा काल करते रहते हैं और जो समस्त उपमाओंसे रहित ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मामें सदाकाल लीन रहते हैं ऐसे वे जगद्वंद्य मुनिराज पवित्र एषणासमितिके स्वामी गिने जाते हैं।

भावार्थ—अधःकर्म। औद्देशिक १ अध्यधि २ पूति ३ मिश्र ४ स्थापित ५ बलि ६ प्रावर्तित ७ प्राविष्करण ८ क्रीत ९ प्रामृष्य १० परिवर्तक ११ अभिघट १२ उद्भिन्न १३ मालारोपण १४ अच्छेद्य १५ अनिसृष्ट १६ ये सोलह दोष उद्गमदोष कहलाते हैं। अधःकर्म दोष इन सब से भिन्न है। आगे इन का स्वरूप संक्षेपसे बतलाते हैं। जो गृहस्थ अनेक जीवोंकी विरा-

धना करनेवाली जीविका करते हैं उनके यहां आहार लेना अधः कर्मदोष है। यह दोष पिंडशुद्धिको सबसे अधिक नाश करनेवाला है। किसी देवताके लिए वा किसी दीन दरिद्रीके लिए बनाया हुआ आहार ग्रहण करना वा देना औद्देशिकदोष है। साधुओंको आते हुए देखकर पकते हुए चावलोंमें और अधिक चावल जल मिला देना अथवा जब तक रसोई तैयार न हो जाय तबतक रोक रखना अध्यधि दोष है २। प्रासुक अप्रासुक मिला हुआ आहार देना पूति दोष है। चूल्हा, उखली, बर्तन, द्रव्य, गंध आदि द्रव्योंमें सबसे पहले ऋषियोंको देकर फिर स्वयं ग्रहण करनेका नियम करना पूति दोष कहलाता है। ये सब पदार्थ पहले ही पहले अप्रासुक होते हैं। इनमें पहले ही प्रासुक करना पूति दोष है ३। प्रासुक आहार बनाकर भी गृहस्थ वा पाषंडियोंके साथ साथ मुनियोंको देनेकी इच्छा रखना मिश्रदोष है। इसमें स्पर्शका दोष भी लगता है और ऋषिका अनादर भी होता है ४। दाल भात आदि भोजनको बननेवाले बर्तनोंमें से निकालकर अन्य बर्तनोंमें रख लेना और फिर उस निकाले हुए भोजन को आहार देने के लिए दूसरे स्थानमें रख लेना अपने ही घरमें, दूसरे स्थानमें रख लेना वा दूसरे घरमें रख लेना स्थापित दोष है। किसी प्रकार का विरोध होने पर ही दूसरे स्थान में रक्खा जाता है

और इसीलिए दोष है ५ यक्ष नाग आदिको नैवेद्य देकर जो आहार शेष रहता है उसको देना बलिदोष है। इसमें सावद्यदोष अधिक होता है ६। किसी आगामी कालमें अधिक अन्न देनेका वायदा कर उससे कुछ कम उधार लेना और वह अन्न आहारमें देना प्राभृत दोष है। उधार लेनेमें क्लेश भी होता है और अधिक आरंभ होता है। इसीलिये यह दोष है। इसको परावर्तित दोष भी कहते हैं ७। अपने सब वर्त्तनोंको माजकर साफ करना वा मंडप वा दीवालोंपर प्रकाश करना प्राविष्करण दोष है। ऐसा करनेसे ईर्यापथमें दोष आता है। ८ आहार देनेके लिये गाय भैंस वा अन्य कोई पदार्थ देकर अन्नग्रहण करना क्रीत दोष है ९। मुनिके आजानेपर दूसरेके घरसे देनेका वायदाकर दाल भात रोटी ले आना ऋणदोष है। ऋण लेनेमें क्लेश अवश्य होता है। इसीको प्रामृष्य दोष कहते हैं १०। साधुके लिये किसी दूसरे घरसे रोटी देकर भात ले आना वा भात देकर रोटी ले आना परिवर्तक दोष है। ऐसा करनेमें भी संक्लेश परिणाम अवश्य होते हैं। ११ परदेशसे वा मुहल्लेसे आये हुए लड्डू आदिको आहारमें देना अभिघट दोष है। अपने मुहल्लेमें भी पंक्तिबद्ध तीन घरोंसे वा सात घरोंसे (अपने घरसे लगे हुए) लाया हुआ अन्न ग्रहण करने योग्य है तथा आगेके घरोंसे लाये हुए अन्नमें

अभिघट दोष होता है। इससे दूसरे काने में अधिक दोष होता है १२। मुह बंधे हुए घडे आदि बर्तनोंमें से गुड खांड आदि पदार्थोंको निकालकर देना उद्भिन्नदोष है। ऐसे बर्तनोंमें चींटी आदि प्रवेशकर सकती है १३। एक सीढी चढकर ऊपर की मंजिलसे भोजन लाकर देना अथवा एक सीढी उतरकर नीचेकी मंजिलसे भोजन लाकर देना मालारोहण दोष है। इसमें दाताको गिर जानेकी हानि पहुंच सकती है १४। मुनियोंको आते हुए देखकर अपने कुटम्बियोंसे यह कहना कि आज राजाने यह आज्ञा दी है कि जो कोई पुरुष मुनियोंको आहार न देगा वह नगर से निकाल दिया जायगा। अथवा चोरोंने यह कहा है कि जो कोई मुनियोंको आहार न देगा उसका सब धन हरण कर लिया जायगा। इस प्रकार कुटम्बियोंको भय दिखाकर आहार देना उच्छेद्य नामका दोष है। ऐसा आहार कुटम्बियोंको त्रास देकर दिया जाता है। इसी-लिये दोष है १५। यदि कोई स्वामी किसी मुनिके लिये आहार देता हो और उसके आधीन रहनेवाले कर्मचारी निषेध करते हों तो अनीशार्थ दोष कहलाता है अथवा आधीन रहनेवाले कर्मचारी आहार देते हों और स्वामी निषेध करता हो तो भी अनीशार्थ दोष होता है इसे अनिसृष्ट दोष भी कहते हैं १६। इस में निषेध किया हुआ दान ग्रहण किया जाता है इस

लिये दोष है । इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं।

आगे सोलह उत्पादन दोषोंको कहते हैं। धात्री, दूत, निमित्त, आजीवन, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग, और मूलकर्म ये सोलह उत्पादन दोष कहलाते हैं। अनुक्रमसे इनके संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है। जो मुनि किसीके बालकको विभूषित कर वा क्रीडा कराकर वा सुलाकर वा नीरोग रहने की वा दूध पिलाने की विधि बताकर गृहस्थको आहारदानमें प्रवृत्त कराता है और उसके यहां स्वयं आहार लेता है उसको धात्री नामका दोष कहते हैं । धात्रीशब्दका अर्थ धाय है। धायका काम करके आहार लेना धात्रीदोष है । ऐसा करनेसे स्वाध्याय आदिका नाश अवश्य होता है । जो मुनि एक स्थानसे दूसरे स्थानको वा दूसरे गांव नगरको वा दूसरे देशको जाते हों और उस समय कोई श्रावक वहांपर रहनेवाले अपने संबंधीके लिये कुछ समाचार कह दे और वे मुनि वहां जाकर उसके संबंधीसे वह समाचार कहें तथा उन समाचारोंके मिलनेसे संतुष्ट होकर वह श्रावक उनको आहार देनेमें प्रवृत्त हो तो उस आहार के लेनेमें दूत नामका दोष लगता है। ऐसा करनेसे जिनशासनमें दोष आता है। निमित्त ज्ञान बतलाकर भिक्षा उत्पन्न करना निमित्तदोष है। निमित्तज्ञान आठ

प्रकार है। शरीरपर के तिल वा मस्से देखकर फल कहना, शरीरके अवयव देखकर फल कहना, स्वर देखकर फल कहना, किसी शस्त्रके प्रहार को देखकर वा वस्त्रोंके काटनेको देखकर फल कहना, भूमीको देखकर फल कहना ग्रह नक्षत्रोंको देखकर फल कहना, हाथ पैरके शंख चक्र आदि चिन्होंको देखकर फल कहना और स्वप्नको देखकर फल कहना। ये आठ निमित्त हैं। इनके शिवाय अग्निदाह भूमिगर्जन आदि भी है। इस प्रकार के निमित्त बताकर आहार देनेके लिए प्रेरित करना निमित्तदोष है। इस में दीनता का दोष आता है और जिह्वाकी लंपटता सिद्ध होती है। अपनी जाति, कुल, कला, तपश्चरण आदि को बतलाकर आहारके लिए प्रेरित करना और आहार लेना आजीव दोष है। इस में शक्तिको छिपाना पडता है और दीनताका दोष आता है। यदि किसी मुनिसे कोई यह पूछे कि महाराज! कुत्ता,कोढी,भिकारी,मांसभोजी ब्राह्मण, मागनेवाले साधु, विद्यार्थी, कौआ आदिको दान देना पुण्य है वा नहीं इस प्रकार पूछने पर पुण्य है ऐसा उसके अनुकूल वचन कहकर आहारदान के लिए प्रेरित करना और फिर उसके यहां आहार लेना वनीपक नामका दोष है। इस में दीनताका दोष आता है। जो साधु आठ प्रकार की चिकित्सा करके आहार लेता है उसको चिकित्सा नाम का दोष लगता है। मासिक

वा वार्षिक ग्रहोंकी पीडाको बतलानेवाले शास्त्र कौमार शास्त्र हैं, ज्वरादिकको दूर करनेवाले शरीरचिकित्साशास्त्र हैं, अधिक काल जीवित रहनेके साधन बतलाने वाले रसायनशास्त्र हैं, विष उतारनेवाले शास्त्र विषशास्त्र हैं, भूत, पिशाच उतारनेवाले शास्त्र भूतशास्त्र हैं, व्रणशोधन करनेवाले शास्त्र क्षारतंत्र हैं, सलाईसे नेत्रोंके पटल उघाडनेवाले शास्त्र शलाकाशास्त्र हैं, तथा भूमिमें हड्डी बतलानेवाले शास्त्र शल्यशास्त्र हैं। इस प्रकार शास्त्रोंका निरूपण कर वा उन कार्योंको उत्पन्न कर आहार देनेके लिये प्रेरित करना और आहार लेना चिकित्सादोष है। इसमें सावद्य वा पापकर्मका दोष लगता है। क्रोध उत्पन्न कर आहार देनेके लिये प्रेरित करना और लेना क्रोध दोष है। मान वा अभिमान प्रकट कर आहार देनेके लिये प्रेरित करना और आहार लेना मानदोष है। कुछ मायाचारी कर आहार देनेके लिये प्रेरणा करना और आहार लेना मायादोष है। तथा अपना कुछ लोभ वा इच्छा दिखलाकर आहार देनेके लिये प्रेरित करना लोभ नामका दोष है। इन चारों दोषोंमें भावोंकी अशुद्धता होती है। आहार लेनेके पहले ही दाताकी प्रशंसा करना पूर्वस्तुति दोष है, आहार ग्रहण करनेके अनंतर दाताकी प्रशंसा करना पश्चात्स्तुतिदोष है। 'मैं तुझे यह विद्या दूंगा इसको सिद्ध कर लेना' इस प्रकार कह कर आहार देनेके लिये

प्रेरित करना विद्या नामका दोष है। 'मैं तुझे यह मंत्र दूंगा, यह जप करनेसे सिद्ध हो जाता है और यह फल देता है' इस प्रकार कहकर आहार देनेके लिये प्रेरणा करना और आहार लेना मंत्रदोष है। नेत्रोंके अंजन, वा तिलकचूर्ण अथवा शरीरको सुशोभित करनेवाले चूर्ण बतलाकर आहार देनेके लिये प्रेरित करना और उसके यहां आहार लेना चूर्णदोष है। इसमें जीविकाके साधनोंका दोष आता है। जो वश नहीं होते उनको वश कराकर वा बिछुडे हुए को मिलाकर आहार देनेके लिये प्रेरित करना और उसके यहां आहार लेना मूलकर्म नामका दोष है। इसमें लज्जाके कार्य भी करने पडते हैं। इस प्रकार उत्पादन के सोलह दोष बतलाये, अब आहारके दश दोष बतलाते हैं। शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त, ये दश अशनदोष कहलाते हैं। यह आहार ग्रहण करने योग्य है वा नहीं इस प्रकार शंका होनेपर भी उस आहारको ग्रहण करना शंकितदोष है। चिकने हाथसे वा चिकने बर्तनसे वा चिकनी करछुली वा चमचीसे दिया हुआ आहार लेना म्रक्षित दोष है। इसमें सूक्ष्म जीवोंके मरने का दोष लग सकता है। सचित्त हरित काय पर रक्खे हुए आहारको ग्रहण करना निक्षिप्तदोष है। सचित्त पत्तोंसे ढके हुए आहारको ग्रहण करना पिहित नामका दोष है। यदि

दाता विना देखे बर्तन वस्त्र वा आहार आदिको बडी शीघ्रताके साथ इधर उधर रख दे वा हाथमें लेले और मुनिराज उस आहार को ग्रहण कर लें तो संव्यवहार नामका दोष लगता है। यदि आहार देनेवाली शीघ्र प्रसूता हो, वा मद्यपान करनेवाला हो, रोगी हो, मुरदनीसे आया हो, वा सूतक पातकमें हो, नपुंसक हो, वायुका रोगी हो, गृहस्थ होकर भी नग्न हो, मलमूत्र करके आया हो, मूर्छित हो, जो वमन करके आया हो, जिसके शरीरसे रुधिर निकल रहा हो, वेश्या हो अर्जिका हो वा लाल वस्त्र पहननेवाली वैरागिन हो, स्नान करानेवाली हो, अत्यंत बालक हो, अत्यंत वृद्ध हो, खा रही हो, पांच महिनेकी गर्भिणी हो, अंधी हो, जिसके बीच में दीवालका व्यवधान हो, बैठी हो, ऊंचे स्थानपर हो, नीचे स्थानपर हो, ऐसे स्त्री वा पुरुष के हाथ से लिए हुए आहार में दायक दोष होता है तथा जो स्त्री वा पुरुष मुखसे अग्नि जलाकर आया हो, अग्नि बुझाकर आया हो, अग्निको भस्मसे ढककर आया हो, चूल्हेमें से लकडीको खींचकर आया हो वा अग्निको किसीसे ढककर आया हो वा दीवालको लीप पोतकर आया हो, बालकको दूध पिलाती हुई स्त्री बालकको छोडकर आई हो तथा और भी ऐसे ऐसे कार्य करके आया हो और वह आहार दान दे तो उस आहारके ग्रहण करनेमें दायक दोष होता है। मिट्टी

अप्रासुक जल, हरित काय बीज वा त्रसजीवोंसे मिले हुए आहारको ग्रहण करनेसे उन्मिश्र नामका महा दोष लगता है। ऐसा आहार सर्वथा त्याज्य है। तिलोंके धोनेका पानी, चावलोंके धोनेका पानी, ठंडा हुआ गरम जल, चना धोनेका पानी, भूसी धोनेका पानी, तथा जिसका रस गंध वर्ण नहीं बदला है ऐसा हरड आदिका चूर्ण मिलाया जल ग्रहण करना अपरिणतदोष है। जिन हाथोंमें गेरूका रंग लगा हो, हरतालका रंग लगा हो, सेल खडी लगी हो, मनःशिल लगा हो, चावलोंका चूर्ण लगा हो, वा सचित्त शाक लगा हो, अप्रासुकजल लगा हो ऐसे हाथोंसे दिया हुआ वा गीले हाथसे दिया हुआ आहार ग्रहण करना लिप्त नामका दोष है। जिसमें बर्तन आदि बहुत हों और भोजनकी सामग्री थोडी हो ऐसा आहार नहीं लेना चाहिए तथा आहार देते समय जिस आहारसे घी दूध टपकता हो ऐसा आहार भी नहीं लेना चाहिये ऐसा आहार ग्रहण करनेमें त्यक्तदोष होता है। अथवा मुनिराज आहार लेते समय अपने हाथ अधिक चौडे कर दें जिससे कि उंगलियोंमें से आहार टपकने लगे तो भी त्यक्तदोष लगता है। इस प्रकार अशनके दश दोष होते हैं। इन दोषोंके लगनेसे जीवोंकी दया भी नहीं पलती और लोकनिंदा भी होती है। अत एव इन दोषों को छोडकर ही आहार लेना चाहिए।

इनके सिवाय संयोजन, अप्रमाण, अंगार और धूम ये चार दोष और हैं। यथा जो ठंडे आहारको गर्ममें मिलाकर वा गर्ममें ठंडे आहारको मिलाकर आहार लेना है अथवा और भी जो परस्पर विरुद्ध आहारको मिलाकर लेना है उसको संयोजन नामका दोष कहते हैं। मुनियोंको अपना उदर आधा भोजनसे, चौथाई जलसे भरना चाहिये तथा चौथाई पेट खाली रखना चाहिये। यदि कोई मुनि इससे अधिक जलपान ग्रहण करता है तो उसके अप्रमाण नामका दोष लगता है। अधिक आहार ग्रहण करनेसे न तो स्वाध्याय होता है, और न छहों आवश्यक क्रियाएं होती हैं। इसके सिवाय ज्वर भी आता है और नींद आलस भी सताता है। जो मुनि लंपटतापूर्वक वा तीव्रलालसासे आहार करते हैं तो उनके अंगार नामका दोष लगता है। यह आहार ठीक नहीं है मेरेलिये अनिष्ट है इस प्रकार निंदा करते हुए जो उस आहारको ग्रहण करते हैं उनके धूम नामका दोष लगता है। इन दोषोंमें संक्लेशपरिणाम अवश्य होते हैं। इस प्रकार छ्यालीस दोषोंका निरूपण किया।

अब आगे बत्तीस अंतरायोंको कहते हैं। काक, अमेध्य, छर्दि, रोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वधःपरामर्श, जानूपरिव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, प्रत्याख्यानसेवन जंतुवध, काकादिपिंडहरण, पाणिपिंडपतन, पाणौजंतु

वध, मांसादिदर्शन, उपसर्ग, पादान्तरे जीवसंपात, भाजन संपात, उच्चार, मस्रवण, अभोज्य गृहप्रवेश, पतन, उपवेशन, सदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदरकृमिनिर्गमन, अदत्तग्रहण, महार, ग्रामदाह, पादेन किंचित्ग्रहण, और कर-ग्रहण, ये बत्तीस अंतराय हैं। अंतरायोंके आनेपर आहारका त्याग कर देना चाहिये। यदि मुनिचर्याके लिये जा रहे हों वा आहारके लिये खडे हों और उस समय कोई कौआ वा अन्य पक्षी उसके ऊपर वीट कर दे तो काक नामका अंतराय है। यदि चर्याको जाते समय पैरमें विष्टा लग जाय तो अमेध्यनामका अंतराय है। यदि मुनिको वमन हो जाय तो छर्दिनामका अंतराय है। यदि आहार को जाते समय कोई रोक दे वा पकड ले तो रोधन नामका अंतराय है। यदि आहारके समय अपने शरीरसे वा अन्यके शरीरसे निकलते हुए रुधिरको देख ले तो रुधिर नामका अंतराय है। यदि आहारके समय किसी दुःखसे अपने वा दूसरोंके आंसू निकल पडें तो अश्रुपात नामका अंतराय है। आहारके समय यदि जंघासे नीचे हाथका स्पर्श हो जाय जान्वधःपरामर्श नामका अंतराय है।

गोडके ममाण काठके ऊपर उलंघ जाना वह [illegible] व्यतिक्रम है। आहारके लिए यदि मुनिको ऐसे [illegible] पडे जिसमें नाभिसे नीचे मस्तक करके [illegible] नाभ्यधोनिर्गमन नामका अंतराय है। [illegible]

हुआ पदार्थ आहार में आ जाय तो प्रत्याख्यानसेवन नामका अंतराय होता है। यदि आहारके समय अपने सामने वा किसी दूसरे के सामने किसी प्राणीकी हत्या हो जाय वा कर दी जाय तो जंतुवध नामका अंतराय होता है। यदि आहार करते समय कौआ आदि कोई पक्षी आदि आहार ले जाय तो काकादिपिंडहरण नाम का अंतराय होता है। यदि हाथसे आहार गिर जाय तो पाणिपिंडपतन नामका अंतराय होता है। यदि आहार के समय कोई जीव आकर हाथमें ही मर जाय तो पाणि जंतुवध नामका अंतराय होता है। यदि आहारके समय मांसादिक दिखाई पड जाय तो मांसादिकदर्शन नामका अंतराय होता है। यदि आहारके समय कोई उपसर्ग आजाय तो उपसर्ग नामका अंतराय होता है। यदि आहार करते समय मुनियोंके पैरोंके बीचमेंसे होकर पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय तो पादान्तरजीवसंपात नामका अंतराय होता है। यदि दाताके हाथसे कोई बर्तन गिर जाय तो भाजनसंपात नामका अंतराय होता है। यदि आहारके समय मुनिके उदरसे मल निकल जाय तो उच्चार नामका अंतराय है। यदि मूत्र निकल जाय तो प्रस्रवण नामका अंतराय है। आहारको जाते समय यदि चांडाल आदि के घरमें प्रवेश हो जाय तो अभोज्य गृह प्रवेश नामका अंतराय होता है। यदि आहार ग्रहण करते

समय मुनि गिर जाय तो पतन नामका अंतराय है। यदि आहार करते समय मुनि बैठ जांय तो उपवेशन नाम का अंतराय होता है। यदि आहारके समय कोई कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि काट ले तो दंश नामका अंतराय है। यदि सिद्धभक्तिके अनंतर हाथ से भूमिका स्पर्श हो जाय तो भूमिस्पर्श नामका अंतराय है। यदि आहारके समय मुनि थूक दें वा कफ निकल जाय तो निष्ठीवन नामका अंतराय है। यदि आहारके समय मुनि के पेटसे कोई कीडा कृमि निकल आवे तो उदरकृमिनिर्गमन नामका अंतराय है। यदि आहारके समय मुनि विना दिया हुआ कोई पदार्थ ग्रहण कर लें तो अदत्तग्रहण नामका अंतराय है। यदि आहारके समय मुनि के ऊपर वा अन्य किसी के ऊपर कोई पुरुष किसी शस्त्रका प्रहार करे तो प्रहार नामका अंतराय है। यदि आहारके समय किसी गांव में अग्नि लगनेका समाचार सुनाई पड जाय तो ग्रामदाह नाम का अंतराय है। यदि आहारके समय पांवसे कुछ ग्रहण कर लिया जाय तो पादग्रहण नामका अंतराय है और हाथ से कुछ ग्रहण कर लिया जाय तो करग्रहण नामका अंतराय है। इस प्रकार ये बत्तीस अंतराय हैं। इनके सिवाय यदि चांडालका स्पर्श हो जाय, कलह हो जाय, इष्टमरण हो जाय, किसी साधर्मीका सन्यास पतन हो जाय, वा किसी प्रधानका मरण हो जाय तो आहारका

त्याग कर देना चाहिये। यदि किसी प्रकारका राज्यभय हो जाय वा लोकनिंदा हो जाय तो भी आहारका त्याग कर देना चाहिये। यह आहारका त्याग संयमके लिये वा वैराग्यके लिये किया जाता है। इस प्रकार छयालीस दोष और बत्तीस अंतराय रहित ही मुनिराज आहार लेते हैं।

यद्यपि वे मुनिराज शरीरको अपना नहीं समझते परंतु रत्नत्रयको निर्मल बनानेके लिये शरीरकी रक्षा करना आवश्यक समझते हैं जिस प्रकार गाडीका पहिया ठीक तरहसे घूमते रहनेके लिये तेल दिया जाता है, उसी प्रकार इस शरीरके द्वारा रत्नत्रय पूर्ण करनेके लिये मुनिराज इस शरीरको आहार दिया करते हैं। मुनिराजोंकी समस्त क्रियाएं स्वतंत्र हैं परंतु आहार ग्रहण करना सद्-गृहस्थोंके आधीन है। इसीलिये मुनिराजोंको इस काममें बहुत सावधानता रखनी पडती है। मुनिराज छाया देख-कर वा अन्य किसी प्रकारके आहारका समय जान लेते हैं फिर शौचादिकसे निवृत्त होकर शरीरशुद्धि करते हैं, शरीरके सब भागोंको पीछीसे पोंछते हैं। फिर पंचपर-मेष्ठीको नमस्कार कर विना किसी दीनताके आहारके लिये जाते हैं। शूद्र, कृपण, निंदनीय जीविका करनेवाले आदिके घर में मुनिराज कभी नहीं जाते। क्यों कि ऐसे घरोंमें जानेसे संक्लेश परिणाम होते हैं, अपना तिरस्कार होता है, अपकीर्ति होती है, संयमका नाश होता

है। शास्त्र और लोकका विरोध होता है। मुनिराज कभी याचना नहीं करते। जिस घर में विवाह शादी हो वा गीत नृत्य होते हों वा पशुओंका स्थान हो वहां नहीं जाते हैं। मुनिराज नवधाभक्तिपूर्वक ही आहार लेते हैं। नवधा भक्ति इस प्रकार है। नवधाभक्ति करनेके लिए श्रावक अपने द्वार पर खडे रहते हैं। जब मुनि चर्याके लिए वहां से निकलते हैं तब वे श्रावक उनको नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु कहते हैं तथा हे प्रभो! यहां ठहरिये आहार जल शुद्ध है। इस प्रकार कहते हैं। इसको प्रतिग्रह कहते हैं। यदि मुनिराज अपने आहारकी योग्यता देखते हैं और उनका वृत्ति-परिसंख्यान [आहारको उठते समय मुनि यह नियम कर लेते हैं कि आज यदि प्रतिग्रह वाले के पास कोई फल होगा तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं अथवा पुरुष ही प्रतिग्रह करेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं। ऐसे नियमको वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं। उपवासरूप अधिक तपश्चरणकी इच्छासे ही यह नियम लिया जाता है] मिल जाता तो वे मुनिराज ठहर जाते हैं। तदनंतर वह गृहस्थ उन मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा देता है और फिर घरके भीतर पधारनेके लिये प्रार्थना करता है। प्रार्थना करनेके नंतर गृहस्थ स्वयं आगे हो लेता है उसके पीछे वे मुनिराज चले जाते हैं। इतनी सब क्रियाको प्रतिग्रह कहते हैं। घर ले जाकर वह गृहस्थ उन मुनिराजको किसी पाटपर वा

अन्य किसी उच्चासनपर विराजमान करता है। इसको उच्चस्थान कहते हैं। तदनंतर वह गृहस्थ गर्म जलसे उन मुनिराजके चरणोंका प्रक्षालन करता है और उस प्रक्षालनके जलको अपने मस्तकपर धारण करता है इसको पादोदक कहते हैं। फिर वह श्रावक अष्टद्रव्यसे उन मुनिराजकी पूजा करता है, इसको अर्चन कहते हैं। फिर वह श्रावक उन मुनिराजको नमस्कार करता है। इसको नमस्कार वा प्रणाम कहते हैं। तदनंतर वह श्रावक उन मुनिराजसे निवेदन करता है कि हे प्रभो! मेरा मन भी शुद्ध है वचन भी शुद्ध है शरीर भी शुद्ध है। और आहार भी शुद्ध है। अब आप आहार ग्रहण कीजिये। इस क्रियाको मनः शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, और आहार शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार नवधाभक्ति हो जानेके अनंतर वे मुनिराज आहारकी योग्यता देखकर आहारके लिये खडे होते हैं। मुनिराज खडे होकर ही आहार लेते हैं, तथा किसी पात्रमें आहार नहीं लेते हैं किंतु करपात्रमें ही आहार लेते हैं। इसका भी कारण यह है कि मुनियोंके यह नियम रहता है कि जबतक इस शरीरमें खडे होने की शक्ति है तबतक ही आहार लूंगा, जिस दिनसे खडे होने की शक्ति नहीं होगी उस दिनसे आहारका त्याग कर दूंगा। इस नियमके अनुसार वे खडे होकर ही आहार लेते हैं। तथा पात्रोंमें आहार लेने से परिग्रहका दोष

आता है। यदि वर्तन ठीक न मिले तो अपमान और दीनता भी होती है। अतएव वे मुनिराज करपात्रमें ही आहार लेते हैं। वे मुनिराज दोनों हाथोंकी छोटी उंगलियोंको मिला लेते हैं और आहार लेनेतक नहीं छोडते हैं। यदि बीच में छूट जाय तो उस दिन फिर वे आहार नहीं लेते। जिस प्रकार गाय को चारा डाला जाता है उस समय गाय अपने चारेको ही देखती है। वह यह नहीं देखती कि यह चारा सुंदर स्त्रीने डाला है या किसी वृद्धने डाला है। उसी प्रकार वे मुनिराज भी आहार देनेवालेकी ओर नहीं देखते किंतु अपने आहारको ही देखते हैं। इसीलिये मुनियोंकी वृत्तिको गोचरी वृत्ति कहते हैं। अथवा भ्रामरी वृत्ति भी कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंसे रस लेता है परंतु पुष्पको बाधा नहीं पहुंचाते, उसी प्रकार वे मुनिराज भी बिना किसीको बाधा दिये ही आहार ग्रहण करते हैं। अथवा जिस प्रकार किसी गड्ढेको कूडा कर्कट चाहे जिससे भर देते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज भी रूखे सूखे चाहे जैसे शुद्ध आहारसे अपने पेटको भर लेते हैं। इसी लिये मुनियोंकी इस वृत्तिको गर्तपूर्णवृत्ति कहते हैं।

वे मुनिराज मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे होनेवाली नौ प्रकारकी शुद्धिपूर्वक ही आहार लेते हैं तथा नख, बाल, जंतु, हड्डी, धान, चावलके भीतरी कण, रुधिर, मांस, मवाद, बीज, फल, कंद, मूल,

आदि आहारमें आजायं तो गेहूं आदि धान्योंको निकाल डालते हैं और बाकीके पदार्थ आजानेपर आहारका त्याग कर देते हैं। मुनिराजको जैसा आहार मिलता है उसको स्वादरहित ग्रहण कर लेते हैं। अच्छेसे संतुष्ट नहीं होते और बुरेसे रुष्ट नहीं होते। वे तो ध्यान तपश्चरण वा स्वाध्यायकी सिद्धिके लिये आहार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे एषणासमितिका स्वरूप कहा।

अब आगे आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं।

यो ज्ञानसंयमविवर्द्धकवस्तु दृष्ट्वा।
गृह्णाति सर्जति सदा मुनिधर्मयोग्यम्।
संसारतापशमितुं सततं समित्याः।
गच्छेद्वसेद् ग्रहणसर्जनवित्स साधुः ॥१२॥

अर्थ—मुनिराजके पास मुनिधर्मको पालन करनेके योग्य ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले शास्त्र होते हैं; संयमकी वृद्धि करनेके लिये पीछी रहती है और शुद्धि करनेके लिये कमंडलु रहता है। इनके सिवाय मुनिराजके समीप और कुछ नहीं होता। वे मुनिराज जब इन पदार्थोंको उठाते हैं वा रखते हैं तो पहले जीव जन्तुको अच्छी तरह देख लेते हैं तथा पीछीसे उस पदार्थको भी शोध लेते हैं और जहां रखते हैं उस स्थानको भी शोध देख लेते हैं तब रखते

हैं। इस प्रकार वे मुनिराज संसारके संतापको शांत करने के लिये सदाकाल समिति पूर्वक ही गमन करते हैं और समितिपूर्वक ही निवास करते हैं। ऐसे वे मुनिराज समितिको जाननेवाले कहलाते हैं।

भावार्थ— मुनिराजोंको शास्त्र वा कमंडलुको उठाने रखनेका काम पडता है। तथा कभी कभी सांथरा बिछाने का भी काम पडता है। घास फूंसकी शय्याको सांथरा कहते हैं। इनमेंसे वे मुनिराज जब कभी किसी भी पदार्थ को उठाते रखते हैं तो देखकर तथा पीछीसे शोध कर ही उठाते रखते हैं. जिससे किसी छोटे जन्तुको भी किसी प्रकारकी बाधा न हो। मुनिराज जो इस प्रकार जीवोंकी रक्षाका प्रयत्न करते हुए अपने ज्ञान—संयमके उपकरणों को उठाते रखते हैं उसको आदाननिक्षेपण कहते हैं। किसी रोगी वा वृद्धमुनिके लिये श्रावक लोग घासका सांथरा बनाते हैं तथा वैयावृत्य करनेवाले मुनि भी कभी बना देते हैं। परंतु देखकर वा शोध कर ही बनाते हैं। यह सब आदाननिक्षेपणसमिति है।

अब आगे व्युत्सर्गसमितिका स्वरूप कहते हैं --

स्थाने ह्यचित्ते विजने विशाले,
करोति दृष्ट्वा मलमोचनादिम्।

रक्षन् ह्यसून् यो वसति स्वधर्मे,
पतिः समित्याः स च पंचमायाः ॥१३॥

अर्थ—जो मुनिराज मल मूत्रका त्याग करनेकी आवश्यकता पडनेपर प्रासुक [जंतुरहित] निर्जन और विशाल क्षेत्रमें जीव जंतुओंको अच्छी तरह देखकर मल मूत्रका त्याग करते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज प्राणियोंकी रक्षा करते हुए अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में लीन रहते हैं। ऐसे वे मुनिराजव्युत्सर्गसमितिके स्वामी गिने जाते हैं।

भावार्थ—जब मुनियों के मलमूत्र त्याग करनेकी आवश्यकता होती है तब किसी ऐसे स्थान में मलमूत्र का त्याग करते हैं जहां जीव जन्तु न हों। जहां मलमूत्र त्याग करने का विचार होता है, वहांपर उस पृथ्वीको अच्छी तरह देख लेते हैं कि उसमें कोई किसी प्रकारका जीव तो नहीं है जहां जीव जंतु नहीं होते ऐसे स्थान को देखकर ही मल मूत्र का त्याग करते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज मनुष्योंके वा पशुओंके संचारसे रहित निर्जन स्थानमें ही मलमूत्रका त्याग करते हैं। तथा विशाल वा विस्तीर्ण स्थानमें ही बैठते हैं और ऐसे स्थानपर बैठते हैं जहांपर बैठनेमें किसी को भी विरोध न हो। इस प्रकार जो विना किसी जीवको बाधा पहुंचाये जो मलमूत्रका त्याग करता है उसको व्युत्सर्ग समिति कहते हैं।

मुनियोंके जब कभी रात्रिमें मलमूत्र त्याग करनेका काम पडता है, और चांदनीका भी प्रकाश नहीं होता तो वे मुनिराज उस पृथ्वीको हथेलीके पिछिले भागसे स्पर्शकर जीव जंतुओंके होने वा न होनेकी परीक्षा कर लेते हैं। हथेलीका पिछिला भाग इतना कोमल होता है कि उसके स्पर्शसे न तो किसी जीवको बाधा पहुंच सकती है और जीव जंतुओंका होना भी सहज मालूम हो जाता है। मुनिराज रात्रिमें मलमूत्र त्याग करनेके लिये ऐसे स्थान-पर ही जाते हैं कि जो स्थान उसी दिन देखा हो और उसमें जीव जंतुओंके होनेकी संभावना न हो। इतनेपर भी हाथके ऊपरी भागसे स्पर्श कर जीव–जंतुके रहने न रहने की परीक्षा कर लेते हैं। यदि उस स्थानपर जीव जंतुके होनेका ज्ञान हो जाता है वा संदेह भी हो जाता है तो वे फिर उस स्थानको छोड देते हैं और दूसरे स्थानकी परीक्षा करते हैं। यदि दूसरे स्थानमें भी जीव जंतुओंके होनेका संदेह हो तो फिर तीसरे स्थानपर जाते हैं। यदि वहांपर भी जीव–जंतुओंके होनेका संदेह हो तो फिर उस पृथ्वीको पीछीसे शुद्ध कर मल मूत्रका त्याग कर लेते हैं, और फिर उसके बदले थोडासा प्राय-श्चित्त लेते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज व्युत्सर्गसमितिको पूर्ण रीति से पालन करते हैं। इस प्रकार व्युत्सर्गसमि-तिका स्वरूप कहा।

जो मुनिराज इन पांचों समितिरूप वज्रमय कवचको सदाकाल धारण करते रहते हैं उनको पापरूपी योद्धा कभी नहीं जीत सकते।

भावार्थ—समितियोंको पूर्ण रीतिसे पालन करनेवाले मुनिराज पापोंसे कभी लिप्त नहीं होते।

स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तु-,
र्मुनेः समित्याः सुखशान्तिदायाः।
प्रोक्तं मया सौख्यमयं स्वरूपं।
ह्याबालवृद्धादिविबोधनार्थम् ॥ १४ ॥

अर्थ--इस प्रकार बालक और वृद्ध सबको समझाने के लिए स्वर्ग तथा मोक्षको देनेवाले और संसाररूपी रोग को नाश करनेवाले मुनिराजोंको सुख और शांति को देनेवाली समितियोंका सुख देनेवाला स्वरूप मुझ आचार्य कुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—पांचों समितियोंके पालन करनेसे सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है तथा जो मुनिराज इन समितियोंको पालन करते हैं वे अवश्य ही स्वर्ग मोक्ष देनेवाले होते हैं और जन्ममरणरूप संसारको नाश करने वाले होते हैं। ऐसी सर्वोत्तम समितियोंका सुखमय स्वरूप मैंने निरूपण किया है। तथा बालक, वृद्ध आदि

सबको समझानेके लिये निरूपण किया है। इसप्रकार समितियोंका स्वरूप निरूपण किया।

अब आगे इन्द्रियोंके निरोधका स्वरूप कहनेके लिये कहते हैं।

निगद्यते चाक्षनिरोधधर्मः ।
समस्तसंतापहरः सुसाधोः ।
स्वानंदसिंधौ च निमग्नमूर्ते- ।
रशेषसंसारविशेषशान्त्यै ॥ १५ ॥

अर्थ— अब आगे समस्त संसारमें विशेष शान्ति प्राप्त करनेके लिये अपने चिदानन्द स्वरूप महासागरमें सदा काल निमग्न रहनेवाले साधुओंके समस्त संतापको दूर करनेवाले इन्द्रियनिरोधरूप आत्माके धर्मका स्वरूप कहते हैं।

भावार्थ—मुनिराज अपनी पांचों इन्द्रियोंका निग्रह सदाकाल करते रहते हैं। वे अपनी इन्द्रियोंको कभी स्वतंत्र नहीं होने देते। आगे उन्हीं इन्द्रियोंके निरोधनका स्वरूप कहते हैं।

शीतोष्णकर्कशभवेऽप्यशुभे न रोषं ।
स्पर्शे शुभे सुखकरे न करोति तोषम् ।

स्पर्शस्य रोधनपरः सुखदुःखदूरः ।
शुद्धे निजात्मनि सदा निरतः स पूज्यः ॥१६

अर्थ——जो मुनिराज शीत, उष्ण वा कर्कश पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले अशुभ स्पर्शके होनेपर भी क्रोध नहीं करते तथा सुख देनेवाले शुभ स्पर्शके होनेपर संतोष प्रगट नहीं करते। वे मुनिराज इष्ट वा अनिष्ट दोनों प्रकारके स्पर्शसे होनेवाले सुख वा दुःखसे सदा दूर रहते हैं, और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहते हैं। ऐसे वे मुनिराज स्पर्शन इंद्रियका निरोध करनेवाले तथा परमपूज्य कहलाते हैं।

भावार्थ—शीत, उष्ण, मृदु, कठोर, रूक्ष, स्निग्ध, हलका भारी ये आठ स्पर्शके भेद हैं। ये आठों ही स्पर्श सुख देनेवाले भी होते हैं और दुःख देनेवाले भी होते हैं। वे मुनिराज न तो अच्छे लगनेवाले पदार्थोंको स्पर्श करने की इच्छा करते हैं और न अनिष्ट लगनेवाले पदार्थोंके स्पर्श से दूर रहनेकी इच्छा करते हैं। वे मुनिराज स्पर्शने-न्द्रियजन्य सुखकी इच्छा कभी नहीं करते हैं। उससे सदाकाल विरक्त रहते हैं। तथा अपने आत्माके शुद्धस्वरूप में सदाकाल लीन बने रहते हैं। ऐसे वे पूज्य मुनिराज स्पर्शनेन्द्रिय का निग्रह करनेवाले वा स्पर्शन इन्द्रिय को वश करनेवाले कहलाते हैं।

आगे रसनेंद्रियविजयको कहते हैं।

दुग्धादिपौष्टिकरसाद्विषयाद्विरागी,
मिष्टातिमिष्टसुखदे स्वरसे सरागी।
मोक्षार्थमेव सततं यतते कृतार्थी,
वंद्यो मुनिः स विजयी रसनेंद्रियस्य ॥१७॥

अर्थ—जो मुनिराज दूध, घी आदि पौष्टिक रसोंसे वा रसना इन्द्रिय के अन्य विषयोंसे सदा विरक्त रहते हैं तथा मिष्टसे भी अत्यंत मिष्ट ऐसे सुख देनेवाले अपने आत्मानन्दरसमें सदा काल लीन रहते हैं। और जो मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदा काल प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे वे वंदनीय और कृतकृत्य मुनि रसना इन्द्रियको विजय करनेवाले कहलाते हैं।

भावार्थ—रसना इन्द्रियका विषय रस है। रसके पांच भेद हैं। खट्टा, मीठा, कडवा, कषायला और चरपरा। इनमेंसे किसीको खट्टा रस अच्छा लगता है, किसीको मीठा अच्छा लगता है, किसीको करेला आदिका कडवा रस अच्छा लगता है और किसीको मिरचोंकी चरपराहट अच्छी लगती है। यद्यपि गृहस्थावस्थामें सब लोग इन रसोंका अस्वादन करते हैं, परंतु वे ही गृहस्थ मुनि अवस्था धारण करनेपर सब रसोंका त्याग कर देते हैं। फिर वे

वे किसी रससे मोह वा इच्छा नहीं रखते। ये पांचों प्रकारके रस चार प्रकारके भोजनमें होते हैं। रोटी, दाल, भात, पूरी, पकवान आदिको अशन कहते हैं। दूध, पानी आदिको पान कहते हैं। लड्डू पेडा आदि स्वादिष्ट पदार्थोंको खाद्य कहते हैं। और इलायची आदिको स्वाद्य कहते हैं। इन चारों प्रकारके भोजनोंमें रहनेवाले पांचों रसोंमेंसे वे मुनिराज किसी रस की इच्छा नहीं करते। यद्यपि लवणरस इनसे भिन्न प्रतीत होता है परंतु आचार्योंने उसे मधुररसमें ही माना है। इसका भी कारण यह है कि जो पाचन आदि गुण लवणमें है वे ही पाचन आदि गुण मधुरतामें है, तथा उत्तमसे उत्तम भोजनोंमें भी यदि लवण न हो तो उस भोजनमें किसी भी प्रकार की मधुरता, वा रोचकता नहीं आती है। इन्हीं सब कारणोंसे लवणरस मधुररसमें ही माना जाता है। इस प्रकार जो मुनिराज जिह्वा इन्द्रियको सर्वथा वशमें कर लेते हैं। वे किसी भी रसकी इच्छा नहीं करते वे रसना इन्द्रियके सर्वथा विजयी कहे जाते हैं।

इस संसार में स्पर्शन और रसना ये दो ही इंद्रियां सबसे प्रबल कही जाती हैं। इन्हीके वशीभूत होकर यह जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। मुनिराज इन्द्रियोंको सर्वथा वश में कर लेते हैं। इसीलिए वे संसार में परिभ्रमण नहीं करते। इच्छाओंको निरोधकर मोक्षस्थान

में जा विराजमान होते हैं। इस प्रकार रसना इन्द्रियके निरोध का स्वरूप कहा।

अब आगे घ्राण इंद्रियके निरोधका स्वरूप कहते हैं।

दुर्गंधतादिविषयाद्धि सुगंधतोऽपि,
शुद्धात्मगंधरहितात्परतो विरागी।
रागी प्रिये स्थिरतरे स्वसुगंध एव,
घ्राणेन्द्रियस्य विजयी स मुनिः प्रपूज्यः॥१८॥

अर्थ—जो मुनि शुध्द आत्माकी परमगंधसे रहित ऐसी घ्राण इन्द्रियके विषयभूत सुगंध वा दुर्गंधसे सर्वथा विरक्त रहते हैं और अत्यंत प्रिय तथा सदाकाल रहनेवाले अपने आत्माके शुध्द चिदानंदस्वरूप परमगंधमें सदा लीन रहते हैं, ऐसे वे महापूज्य मुनिराज घ्राणेन्द्रियको विजय करनेवाले वा वश करनेवाले कहलाते हैं।

भावार्थ—घ्राणेन्द्रियका विषय सुगंध वा दुर्गंध है। वह सुगंध वा दुर्गंध जीवोंसे भी उत्पन्न होती है। और अजीवपदार्थोंसे भी होती है। तथा कोई सुगंध दुर्गंध स्वाभाविक होती है और कोई कृत्रिम बनाई हुई होती है। कस्तूरी केसर चन्दन आदिमें सुगंध होती है और विष्ठा आदिमें दुर्गंध होती है। वह सुगंध दुर्गंध दो प्रकारकी होती है। आत्माको सुख देनेवाली और दुःख देनेवाली।

इस संसारमें जितनी सुगंध वा दुर्गंध हैं उन सबसे वे मुनिराज विरक्त रहते हैं। आत्माको प्रसन्न करनेवाली सुगंधमें अनुराग नहीं करते और दुर्गंधमें द्वेष नहीं करते। वे तो सदा काल अपने आत्मामें लीन रहते हैं। इसलिये वे मुनिराज घ्राणेन्द्रियको वश करनेवाले वा विजय करनेवाले कहलाते हैं। इस प्रकार घ्राणेन्द्रियके निरोधका स्वरूप कहा।

अब आगे—चक्षु इन्द्रियके निरोधका स्वरूप कहते हैं।

दृष्ट्वा न कुप्यति न तुष्यति वस्तुरूपं,
दुःखाकरं सुखकरं सकलं तथा यः।
चैतन्यरूपमिति सौख्यमयं प्रपश्यं-,
लीनो निजात्मनि स नेत्रजयी कृती कौ।१९।

अर्थ—जो मुनिराज दुःख उत्पन्न करनेवाले पदार्थों को देखकर तो कभी क्रोध नहीं करते और सुख देनेवाले पदार्थोंको देखकर कभी संतुष्ट नहीं होते। वे सुंदर वा असुंदर सब प्रकारके पदार्थोंसे राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देते हैं। तथा अनंत सुखमय चैतन्यस्वरूपको देखते हुए अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में सदा लीन रहते हैं। ऐसे वे कृतार्थ होनेवाले मुनिराज इस संसारमें नेत्र इंद्रिय को वश करनेवाले वा विजय करनेवाले कहलाते हैं।

भावार्थ—चक्षु इंद्रियका विषय रूप है। वह रूप देव, मनुष्य, ललना आदि सजीव पदार्थोंका भी होता है तथा देव, मनुष्य, ललनाओंकी मूर्ति वा अन्य प्राकृतिक वा कृत्रिम दृश्य आदि अजीव पदार्थोंका भी होता है। इन सजीव अजीव दोनोंके रूपोंमें नृत्य, गीत, कटाक्ष, गति, झरनोंका पडना आदि क्रियाएं भी होती हैं। समचतुरस्रसंस्थान आदि सुंदर वा असुंदर आकार भी होते हैं और गौरवर्ण वा श्यामवर्ण आदि वर्ण भी होते हैं। वे मुनिराज सुंदर नृत्य, गति, कटाक्ष, सुंदर आकार, गौरवर्ण, वा झरने आदि प्राकृतिक दृश्योंको देखकर न तो कभी संतुष्ट होते हैं और न अशुभ आकार वा अशुभ वर्ण वा अशुभ गतिको देखकर कभी असंतुष्ट होते हैं। वे मुनिराज सुंदर असुंदर समस्त पदार्थोंसे राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देते हैं। यदि कोई भक्त पुरुष अपनी भक्तिसे उनके सामने भी नृत्य करता है तो भी वे मुनिराज अपना मन उधर नहीं लगाते, वे तो अनंत सुखमय सच्चिदानंद स्वरूप अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखते रहते हैं शुद्ध और उसी आत्मामें सदा लीन रहते हैं। ऐसे वे मुनिराज चक्षुइन्द्रियको वश करनेवाले वा विजय करनेवाले कहलाते हैं। इस प्रकार चक्षु इन्द्रियका निरोध बतलाया।

अब आगे श्रोत्र इन्द्रियके निरोधका स्वरूप कहते हैं।

जीवस्य दुःखसुखदं वरपुद्गलादेः।
श्रुत्वा न कुप्यति न तुष्यति शब्दजालम्।

शुद्धात्मनो निजपदाच्चलितो न यश्च ।
श्रोत्रेन्द्रियस्य विजयी स च मोक्षगामी ॥२०॥

अर्थ—जो मुनिराज न तो जीव वा पुद्गलोंके दुःख देनेवाले शब्दोंको सुनकर क्रोध करते हैं और न सुख देनेवाले शब्दोंको सुनकर संतुष्ट होते हैं। वे तो अपने आत्माके शुद्धस्वरूप अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते, ऐसे वे मुनिराज श्रोत्रेन्द्रियको वश करनेवाले वा विजय करनेवाले कहलाते हैं, और अवश्य ही मोक्षगामी होते हैं।

भावार्थ— श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है अर्थात् कानोंसे शब्द सुने जाते हैं। वे शब्द जीवोंसे भी उत्पन्न होते हैं और पुद्गलसे भी उत्पन्न होते हैं। मनुष्योंके कंठ, जिह्वा, तालु, मस्तक आदिसे उत्पन्न होनेवाले तथा आरोहण अवरोहणके भेदसे ऊंचे स्वरसे वा मंदस्वरसे जो शब्द निकलते हैं ऐसे षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत, पंचम, निषाद जातिके स्वर हैं वे सब जीवसे उत्पन्न होनेवाले मधुरस्वर कहलाते हैं। तथा ऊंट, गधे आदिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके असुंदर शब्द कहलाते हैं। इसी प्रकार वीणा, मृदंग, भेरी आदिके शब्द पुद्गलसे उत्पन्न होनेवाले शब्द कहलाते हैं। सुंदर मधुर शब्द कानोंको अच्छे लगते हैं और असुंदर कटु शब्द कानोंको अच्छे

नहीं लगते। मुनिराज न तो मधुरशब्दोंको सुनकर संतुष्ट होते हैं और न कटुक शब्दोंको सुनकर क्रोध करते हैं। अथवा वे मुनिराज सब प्रकारके शब्दोंमें राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देते हैं। तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदा काल लीन रहते हैं। उस आत्माके शुद्ध स्वरूपसे कभी चलायमान नहीं होते। ऐसे अवश्य मोक्ष जानेवाले मुनिराज श्रोत्रेन्द्रियको वश करनेवाले कहलाते हैं। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रियका निरोध बतलाया।

आगे इनका उपसंहार लिखते हैं

दृग्बोधवृत्तनिरतस्य निजाश्रितस्य,
स्वानन्दसिंधुपयसि प्रविलीनमूर्तेः।
पंचाक्षरोधनविधिः सुखदः प्रणीतः,
तत्त्वार्थशोधनविदा वरसूरिणेति ॥ २१ ॥

अर्थ—अपने आत्मतत्त्वको शुद्ध करने में अत्यंत चतुर ऐसे आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरस्वामीने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमें सदाकाल निमग्न रहनेवाले तथा अपने शुद्धात्मस्वरूप के ही आश्रय रहनेवाले और आत्मजन्य अनंत आनंदस्वरूप महासागर के जल में लीन रहनेवाले महामुनियोंको सुख देने वाली यह पांचों इंद्रियोंको निरोध करनेकी विधि निरूपण की है।

भावार्थ—यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि मन सब इंद्रियोंका सहायक होता है। मुनिराज जब पांचों इंद्रियोंका निरोध करते हैं तो मनका निरोध अपने आप हो जाता है। अथवा मन अत्यंत चंचल है अत एव उसको विशेषरीतिसे वश करनेके लिए मुनिराज ध्यान धारण करते हैं। अन्य समास्त चिन्तवनोंका त्याग कर अपने मनको केवल आत्मतत्त्वके चिंतवनमें लगाना ही ध्यान है। मनका विजय ध्यान और स्वाध्यायमें ही होता है, और ये दोनों मुनियोंके मुख्य कर्तव्य हैं। अत एव वे मुनिराज अपने मनको भी पूर्ण रीतिसे अपने वशमें रखते हैं।

आगे छह आवश्यक कहने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

आवश्यकाः स्वसुखदाः कति षड्विधाश्च,
शांतिप्रदाः स्वपरबोधविधायकाश्च ।
शुद्धात्मसौख्यनिरतस्य निरूप्यतेऽत्र,
श्रीकुंथुसिंधुकविनात्मरतेन साधोः ॥२२॥

अर्थ—जो प्रतिदिन अवश्य किये जाय उनको आवश्यक कहते हैं। मुनियोंके आवश्यक छह हैं। तथा वे सब आवश्यक अपने आत्माको सुख देनेवाले हैं, समस्त संसार में शांति उत्पन्न करनेवाले हैं और अपने आत्माके स्वरूप

का तथा आत्मासे भिन्न समस्त पदार्थोंके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं। जो मुनि अपने शुद्ध आत्माके परम सुख में लीन रहते हैं वे ही मुनि इन छहों आवश्यकोंका पालन करते हैं। ऐसे इन छहों आवश्यकों का स्वरूप अपने आत्मामें लीन रहनेवाले कविवर आचार्य श्री कुंथुसागरस्वामी आगे निरूपण करते हैं। अथवा जिनके द्वारा यह आत्मा इन्द्रिय, कषाय, रागद्वेष आदि पापोंके वशीभूत कभी नहीं होता और इसीलिए मुनिराज जिनको प्रतिदिन अवश्य करते हैं उनको आवश्यक कहते हैं।

सामायिक वा समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। आगे इन्हीं छह आवश्यकों का स्वरूप कहते हैं।

आगे समता वा सामायिकका स्वरूप कहते हैं।

सम्पूर्णवस्तुनिचये च निजात्मबाह्ये,
साम्यं विलोक्य विभवे क्षणदृष्टनष्टे।
स्वानन्दसौख्यनिलयेऽतिदृढे स्थितो य-,
स्तं नौमि साधुचतुरं सुखदं त्रिलोके ॥२३॥

अर्थ—जो मुनिराज अपने आत्मामें तथा आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक समस्त पदार्थोंमें समता धारण करते हैं,

तथा क्षणभर में दिखाई देनेवाली और क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली समस्त विभूतियोंमें समताभाव धारण करते हैं और अत्यंत दृढ ऐसे अपने आत्मजन्य अनंत सुखके स्थान ऐसे अपने शुद्ध आत्मामें सदा लीन रहते हैं ऐसे उन तीनों लोकोंमें सुख देनेवाले चतुर साधुओंको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इष्ट अनिष्ट आदि समस्त पदार्थोंमें समता धारण करना सामायिक है। वह सामायिक छह प्रकार है। नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक, और भावसामायिक। शुभ वा अशुभ नामोंको सुनकर राग द्वेष न करना नाम सामायिक है। कोई स्थापना की हुई मूर्ति समस्त अवयवोंसे पूर्ण भावपूर्ण और आल्हाद करनेवाली होती है तथा कोई स्थापना अवयव हीन, भावहीन, प्रमाणहीन, असुंदर होती है। इनको देखकर राग द्वेष न करना स्थापनासामायिक है। सोना, चांदी मोती, मिट्टी, लोहा, लकडी, कांटा, कंकड आदि समस्त पदार्थोंको समान देखना किसीमें राग वा द्वेष नहीं करना द्रव्यसामायिक है। कोई क्षेत्र नदी, सरोवर, बाग, बगीचे, नगर, गांव आदिसे सुंदर होते हैं, और कोई क्षेत्र रेत, बालू, कांटे, कंकड, सूखीनदी, जीर्ण वन आदिसे असुंदर वा भयानक होते हैं। इन दोनों प्रकारके क्षेत्रोंमें राग द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है।

दिन, रात वा कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष, वा वसंत आदि छहों ऋतुओंमेंसे किसी कालमें भी राग द्वेष नहीं करना काल सामायिक है। समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना और अपने परिणामोंको सदा शुद्ध रखना भावसामायिक है। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, संयम, तपश्चरण आदिको धारण करना सामायिक है। अथवा परीषह वा उपसर्गोंको जीतना, समितियोंको पालन करना, व्रतोंकी भावनामें मन लगाना और यम नियम धारण करना सामायिक है। अथवा समस्त पदार्थोंमें राग द्वेष छोडकर समता धारण करना, समस्त स्त्रियोंमें माताके समान समता धारण करना वा मान, अपमान, प्रिय, अप्रिय आदिमें समता धारण करना सामायिक है। अथवा द्रव्यगुण पर्यायोंको यथार्थ रूपसे जानना सामायिक है। वा रागद्वेषको छोडकर अपने कर्तव्यकर्मोंमें समता धारण करना और ग्यारह अंग चौदह पूर्व में मन लगाना सामायिक है। अथवा समस्त पाप क्रियाओंका त्याग कर तीनों गुप्तियों का पालन करना और पांचों इंद्रियोंको वश में रखना सामायिक है। जिन का आत्मा संयम तपश्चरण वा यमनियम में लीन रहता है उन्हींके सामायिक होता है। जो त्रस स्थावर आदि समस्त जीवोंमें समता धारण करते हैं उनके सामायिक होता है। अथवा जिनके आत्मामें रागद्वेष के निमित्त से कभी किसी

प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है वे सामायिक करने वाले कहलाते हैं अथवा जो क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद आदि समस्त कषाय नो कषायोंको जीत लेते हैं उनके सामायिक होता है। अथवा जिनके आहार, भय, मैथुन परिग्रह इन चारों संज्ञाओंसे कोई किसी प्रकार का विकार नहीं होता वा कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या-ओंसे कोई किसी प्रकारका विकार नहीं होता, उनके सामायिक होता है। अथवा जो स्पर्शन और रसना इन दोनों कामेन्द्रियोंको सर्वथा जीत लेते हैं वा रूप गंध शब्द आदि भोगेंद्रियोंको सर्वथा जीत लेते हैं उनके सामायिक होता है। अथवा जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर देते हैं और जो धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यानको धारण करते हैं उनके सामायिक होता है।

इस संसारमें गृहस्थधर्म जघन्य है। इसमें आरंभ स-मारंभ आदिकी विशेष प्रवृत्ति होती है इसीलिए वह संसार का ही कारण है। अत एव समस्त पापरूप योगोंका त्याग करनेके लिये, पापास्रवका त्याग करनेके लिये सामायिक धारण करना चाहिये। इस उत्तम सामायिकको करने-वाला श्रावक भी मुनिके समान माना जाता है। ऐसा यह उत्तम सामायिक अवश्य करना चाहिये। यह सामा-यिक द्रव्य क्षेत्र काल और भावोंकी शुद्धता पूर्वक एकाग्र-

चित्तसे करना चाहिये। इस प्रकार अत्यंत संक्षेपसे सामायिकका स्वरूप कहा।

अब आगे वंदना नामके आवश्यकका स्वरूप कहते हैं।

सिद्धार्हतां चरणवन्दनमेव भक्त्या।
कुर्वन्निजात्मरमणं स्वरसस्य पानम्।
शुद्धेऽचले सुखमये स्वपदे स्थितो य-।
स्तं स्तौमि शान्तिसुखदं परमात्मरूपम्॥२४॥

अर्थ— जो मुनिराज भक्तिपूर्वक अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधुओंके चरण कमलोंकी वंदना करते हैं, अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं, अपने चिदानंदका पान करते रहते हैं और शुद्ध, निश्चल, सुखमय अपने आत्मामें सदा लीन रहते हैं, ऐसे शांति और सुख देनेवाले परमात्मस्वरूप साधुओंकी मैं स्तुति करता हूं।

भावार्थ— पंच परमेष्ठीकी वंदना करना वंदना नामका आवश्यक है। वह वंदना छह प्रकार है। नाम वंदना, स्थापना वंदना, द्रव्य वंदना, क्षेत्र वंदना, काल वंदना और भाववंदना। किसी एक तीर्थंकरका नाम लेकर वंदना करना वा सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु आदि का नाम लेकर वंदना करना नामवंदना है। किसी एक तीर्थंकर की प्रति-

माको वा सिद्ध आचार्य आदिकी प्रतिमाको वंदना करना स्थापनावंदना है। तीर्थंकर वा आचार्य उपाध्यायके शरीरकी वंदना करना द्रव्यवंदना है। तीर्थंकर वा आचार्यादिक जहां विराजमान हुए हों उस क्षेत्रकी वंदना करना क्षेत्रवंदना है। तीर्थंकर वा सिद्ध आचार्य आदि जिस कालमें हुए हों उस कालकी वंदना करना कालवंदना है। अपने शुद्ध परिणामोंसे किसी एक तीर्थंकरकी वा सिद्धाचार्यादिकोंकी वंदना करना भाववंदना है।

वंदना और विनय दोनोंका एक ही अर्थ है। तथा कृतिकर्म चितिकर्म और पूजाकर्म भी इसी विनयमें गिने जाते हैं। पापोंके नाश करनेके उपायोंको कृतिकर्म कहते हैं। पुण्यसंचयके उपायोंको चितिकर्म कहते हैं, पूजा करनेको पूजाकर्म कहते हैं और कर्मोंको निराकरण करनेको विनय कहते हैं। अथवा जिससे कर्म सब नष्ट हो जाय और मोक्षकी प्राप्ति होजाय उसको विनय कहते हैं।

वह विनय पांच प्रकार है लोकविनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय और मोक्षविनय। अपने घर पर कोई धर्मात्मा आया हो तो खडे होना, हाथ जोडना, आसन देना, भोजनादिकसे सत्कार करना और प्रतिदिन देवपूजा करना लोकविनय है। धनके लिये वा कामसेवनके लिये वा किसीके भयसे हाथ जोडना, वा विनय करना अर्थविनय वा कामविनय और भयविनय है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तपश्चरणका विनय करना तथा उपचार विनय करना मोक्ष विनय है। भगवान् जिनेंद्रदेवने जो कुछ द्रव्योंका स्वरूप कहा है उनपर यथार्थ विश्वास करना दर्शनविनय है। सम्यग्ज्ञान से मोक्षकी प्राप्ति होती है, पापोंका त्याग होता है, इसलिए ज्ञानको विनय करना भी अत्यावश्यक है। सम्यक्चारित्रसे प्राचीन कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता। अत एव चारित्र की विनय करना आवश्यक है। तपश्चरणसे ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसलिए तपश्चरणका विनय करना आवश्यक है। इन सम्यग्दर्शनादिक को धारण करनेवालोंकी विनय करना उपचार विनय है। ये पांचों प्रकारकी मोक्षविनय करना उपचार विनय है। ये पांचों प्रकारकी मोक्षविनय मुनियोंको अवश्य करनी चाहिए। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणधर आदि की वंदना मुनियोंको अवश्य करनी चाहिए। मुनियोंको अविरतियोंकी वंदना कभी नहीं करनी चाहिए तथा पार्श्वस्थ आदि मुनियोंकी वंदना भी कभी नहीं करनी चाहिए। पार्श्वस्थ कुशील संसक्त अपसंज्ञ और मृगचरित्र ये मुनि रत्नत्रयसे रहित हैं। इसलिए मुनिराज इनकी वंदना कभी नहीं करते हैं। जो आचार्य आदि मुनि रत्नत्रयसे सुशोभित हैं वे भी यदि किसी ध्यान वा स्वाध्याय से आकुलित हैं। अपनी ओर

पीठ देकर विराजमान हों, निद्रामें हों, आहार करते हो वा मल मूत्र करते हों तो उस समय उनकी वंदना भी नहीं करनी चाहिये। जो आचार्यदिक मुनि एकांतमें विराजमान हों और स्वस्थचित्त हों उस समय उनको निवेदनकर वंदना करनी चाहिये। आलोचनाके समय, कोई प्रश्न पूछनेपर, पूजन करनेके समय, स्वाध्यायके समय और किसी अपराधके बन जानेपर आचार्यदिककी वंदना अवश्य करनी चाहिये। वह वंदना वत्तीस दोषोंसे रहित होकर करनी चाहिये। वंदनाके बत्तीस दोष इस प्रकार हैं।

विनय रहित वंदना करना अनाहतदोष है। विद्या आदिके अभिमान पूर्वक वंदना करना स्तब्धदोष है। पांचों परमेष्ठियोंके अत्यंत समीप होकर वंदना करना प्रविष्टदोष है। अपने हाथोंको अपने जंघापर रखकर वंदना करना परिपीडितदोष है। जो सोकर वा शरीरको हिलाता हुआ वंदना करता है उसके दोलायित दोष कहलाता है। अंकुशके समान अपने अंगूठको मस्तकपर रखकर वंदना करना अंकुशदोष है। अपनी कमरको झुकाकर ही वंदना करना कच्छपरिंगितदोष है। दोनों बगलोंसे वंदना करना अथवा कमरको ऊपरकर वंदना करना मत्स्योद्वर्तदोष है। मनमें दुष्टता रखकर वंदना करना मनोदुष्ट दोष है। अपने हाथोंसे स्तनोंको दवाते हुए वंदना

करना वेदिकाबद्धदोष है । मरणादिकके भयसे भयभीत होकर वंदना करना भयदोष है। गुरु आदिके भयसे भयभीत होकर वंदना करना बिभ्यद्दोष है । इनकी वंदना करनेसे समस्त संघ मेरा भक्त होजायगा यही विचार कर वंदना करना ऋद्धिगौरवदोष है । अपना माहात्म्य दिखलाते हुए वंदना करना गौरवदोष है। गुरुसे छिपकर वंदना करना स्तेनितदोष है । देव गुरुके प्रतिकूल होकर वंदना करना प्रतिनीत दोष है। दूसरोंके साथ कलह करके विना क्षमा कराये वंदना करना प्रदुष्टदोष है । आचार्य आदिके तर्जना करनेपर वंदना करना तर्जितदोष है । मौन छोडकर जो कुछ शब्दोंका उच्चारण करता हुआ वंदना करता है उसके शब्ददोष लगता है। अपने वचनोंसे आचार्यादिकका तिरस्कार कर वंदना करना हीलितदोष है । ललाटपर त्रिवली उत्पन्न कर वंदना करना त्रिवलितदोष है । हाथोंको संकुचित कर मस्तक पर रखना और फिर वंदना करना अथवा संकुचित होकर मस्तकको जंघाओंतक झुकालेना और फिर वंदना करना संकुचित दोष है । आचार्यादिकोंके देखनेपर तो अच्छी तरह वंदना करना अन्यथा इधर उधर देखते हुए वंदना करना दृष्ट दोष है । शरीर और पृथ्वीको विना देखे शोधे वंदना करना वा आचार्यके पीछेकी ओरसे वंदना करना अदृष्ट दोष है । मुझसे बलात्कार वंदना कराई जाती है

यही समझकर वंदना करना संघकरमोचनदोष है। किसी उपकरणको पाकर वंदना करना लब्धदोष है। वंदना करने से मुझे उपकरण मिल जायगा यही समझकर वंदना करना अनालब्ध दोष है। वंदना की क्रिया पूर्ण नहीं करना हीनदोष है। वंदनाको शीघ्र पूर्ण कर आलोचना आदि में अधिक समय लगाना उत्तरचूलिका दोष है। मूक [गूंगा] के समान मुखके भीतर ही भीतर वंदना कर लेना मूकदोष है। अपने ऊंचे स्वरसे दूसरोंके शब्दोंको दबाते हुए वंदना करना दर्दुरदोष है। एकही स्थानसे सबकी वंदना करना चुरुलित दोष है। इस प्रकार वंदनाके बत्तीस दोष हैं। इन समस्त दोषोंको टालकर ही वंदना करनी चाहिये। दोषसहित वंदना करनेसे कर्मोंकी निर्जरा कभी नहीं होती। आचार्य आदिसे एक हाथ दूर बैठकर तथा अपने शरीर और भूमिको देख शोधकर "मैं आपके लिये वंदना करता हूं" इस प्रकार आज्ञा मांगकर वंदना करनी चाहिये। वह वंदना आचार्य आदिको भी स्वीकार करनी चाहिये। इस प्रकार वंदनाका स्वरूप कहा।

आगे स्तुति नामके आवश्यकका स्वरूप कहते हैं।

भक्त्या स्तवं च वृषभादिकसन्मतीनां।
कुर्वन् निजात्मनिलये गमनं यथेष्टम्।
तृप्तोऽस्ति यः प्रियतरे स्वरसे सुखाब्धौ।
तं नौमि शुद्धमनसा सुखशांतिपुंजम् ॥२५॥

अर्थ—जो मुनिराज भक्तिपूर्वक भगवान वृषभदेवसे लेकर भगवान महावीर पर्यंत चौवीसों तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हैं तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें यथेष्ट विचरण करते हैं और अत्यंत प्रिय और अनंत सुखका सागर ऐसे अपने शुद्ध आत्मामें ही सदा तृप्त रहते हैं वे मुनिराज स्तुति नाम के आवश्यकको करनेवाले कहलाते हैं। ऐसे सुख और शान्तिके समूहरूप मुनिराजोंको मैं अपने शुद्ध मनसे नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इस स्तवनके भी नाम स्थापना आदिके भेदसे छह भेद हैं। चौवीसों तीर्थंकरोंके यथार्थ अर्थ को कहनेवाले एक हजार आठ नामोंसे स्तुति करना नाम स्तवन है। चौवीसो तीर्थंकरोंकी कृत्रिम अकृतिम प्रतिमा-ओंकी स्तुति करना स्थापनास्तवन है। चौवीसो तीर्थ-करोंके परमौदारिक शरीरकी स्तुति करना द्रव्यस्तवन है। कैलासपर्वत, सम्मेदाचल, गिरनार, पावापुर, चंपापुर आदि निर्वाण क्षेत्रोंकी स्तुति करना वा समवसरणके क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र स्तवन है। चौवीसो तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणोंके समयकी स्तुति करना कालस्तवन है। चौवीसो तीर्थंकरोंके अनंतचतुष्टयगुणोंकी स्तुति करना भावस्तवन है। इस प्रकार स्तवनके छह भेद हैं।

जो भगवान अरहंतदेव इस लोकको प्रकाशित करने वाले हैं, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो जिनवर वा

जिनेन्द्र कहलाते हैं, जो अरहंत देव कहे जाते हैं, स्तुति करने योग्य माने जाते हैं, जो केवली भगवान् कहलाते हैं और जो सर्वोत्तम हैं ऐसे भगवान् अरहंतदेव मेरे लिये रत्नत्रय प्रदान करें। इस प्रकार चौवीसो तीर्थंकरोंकी स्तुति करनी चाहिये। भगवान् अरहंत देव तीनों लोकों-को प्रत्यक्ष जानते हैं, समस्त नामोंको, समस्त स्थापना-ओंको, जीव अजीव आदि समस्त द्रव्योंको, नरक,मनुष्य, देव, तिर्यंचादिक समस्त भवोंको वा परिभ्रमणको, रागद्वे-षादिक भावोंके तीव्र मंदताको वा उनके द्वारा होनेवाली कर्मकी गतियोंको, और समस्त पर्यायोंको जानते हैं। इसीलिये वे लोकको उद्योत करनेवाले वा प्रकाशित करनेवाले कहलाते हैं। भगवान् अरहंतदेव श्रुतज्ञान श्रुत-स्कंधरूपधर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, चारित्ररूप धर्मकी प्रवृति करनेवाले हैं और जीवाजीवादिक पदार्थोंके यथार्थ धर्मको प्रकाशित करनेवाले हैं। इसलिये वे धर्म तीर्थंकर कहलाते हैं। जिसकेद्वारा यह संसारी जीव संसारसे पार हो जाय उसको तीर्थ कहते हैं। उस तीर्थकी प्रवृत्ति तीर्थं-कर ही करते हैं इसीलिये वे धर्मतीर्थंकर कहलाते हैं। भगवान अरहंतदेवने क्रोध मान माया लोभ काम मद आदि समस्त दोष जीत लिये हैं। इसलिये वे जिन कह-लाते हैं तथा उन्होंने अपने चारों घातियाकर्मरूपी शत्रु नष्ट कर दिये हैं इसीलिये वे अरिहंत कहे जाते हैं।

अथवा वे भगवान् पूजा, वंदना नमस्कार के योग्य हैं अथवा सिद्ध अवस्था धारण करने के योग्य हैं इसलिए भी अर्हन् वा पूज्य कहलाते हैं। उन भगवान् अरहंतदेवने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि का विनय प्रगट किया है इसलिए वे चौवीसों तीर्थंकर अवश्य ही स्तुति करने योग्य हैं। वे भगवान् केवल ज्ञानको धारण करते हैं, अत एव वे केवली कहलाते हैं। वे भगवान् मिथ्यात्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, चारित्रमोहनीय और अंतराय कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं इसलिए वे भगवान् सर्वोत्तम कहलाते हैं। ऐसे वे भगवान् अरहंतदेव मेरे जन्म मरणरूप रोगका नाश करें, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति करें वा जिनदीक्षाके सन्मुख करें, और मरणसमय में समाधिमरण प्रदान करें। भगवान् अरहंतदेवसे इस प्रकार मांगना निदान नहीं कहलाता, क्यों कि भगवान् अरहंतदेव रागद्वेष वा मोहसे सर्वथा रहित होनेके कारण किसी को कुछ भी नहीं देते हैं। उन्हें जो कुछ देना था वह सब कुछ दे चुके, अर्थात् भगवान् अरहंतदेव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका उपदेश दे चुके हैं। इस संसारमें इससे बढकर और कोई पदार्थ नहीं है जो मांगा जाय। तथापि भगवान् अरहंतदेवकी इस प्रकार भक्ति करनेसे पूर्वसंचित कर्मोंका नाश अवश्य होता है। तथा आचार्यादिकोंकी भक्ति करनेसे विद्यामंत्रादिककी सिद्धि

होती है। भगवान् अरहंतदेवमें, उनके कहे हुए धर्ममें, द्वादशांग श्रुतज्ञानमें और रत्नत्रयसे सुशोभित आचार्यादिकोंमें अनुराग करना वा भक्ति करना प्रशस्तराग कहलाता है। उनकी भक्ति करनेसे इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होती है। अत एव इसको प्रशस्तरागपूर्वकभक्ति कहते हैं। और इसीलिए इसको निदान नहीं कह सकते। मुनियोंको अपने पैरोंमें चार अंगुलका अंतर देकर खडे होना चाहिये जिससे कि शरीर निश्चल बना रहे, फिर भूमि शरीर और शुद्ध कर लेना चाहिये, तदनंतर सौम्यता धारण कर अपने दोनों हाथ जोडकर अन्य समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये और फिर चौवीसो तीर्थंकरोंकी स्तुति करनी चाहिये। इस प्रकार संक्षेपसे स्तुतिका प्रकरण समाप्त किया।

अब आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप निरूपण करते हैं।

लब्धे यथैव समयेऽखिलक्षेत्रभावे ।
कुर्वंस्तथात्मसुकृतिं कृतदोषमुक्तिम् ॥
जानन् हि यश्च सुखदं स्वपरात्मरूपं ।
तिष्ठत्सदा निजपदे खलु तं नमामि ॥२६॥

अर्थ—जो मुनिराज अपने योग्य समयमें तथा समस्त क्षेत्रोंमें प्रतिक्रमण कर अपने किए हुए दोषोंसे रहित हो

जाते हैं तथा सुख देनेवाले अपने आत्माके स्वरूपको और अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जानते हैं और सदाकाल अपने आत्माके शुद्धस्वरूपमें लीन रहते हैं। इस प्रकार प्रतिक्रमण करनेवाले उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ— पापके कारणभूत दोषोंसे हटना प्रतिक्रमण है। वह प्रतिक्रमण भी नाम स्थापना आदिके भेदसे छह प्रकार है। यथा—पापके कारणभूत नामोंके दोषोंसे अपने आत्माको हटा लेना अथवा प्रतिक्रमणके दंडकोंको (प्रतिक्रमणपाठको) उच्चारण करना नामप्रतिक्रमण है। सरागी देवोंकी स्थापनासे अपने आत्माको हटा लेना स्थापना प्रतिक्रमण है। पाप उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंके सेवन करनेसे अपने आत्माको हटा लेना द्रव्यप्रतिक्रमण है। क्षेत्रके आश्रितसे होनेवाले दोषोंसे आत्माको हटा लेना क्षेत्रप्रतिक्रमण है। कालके आश्रित होनेवाले दोषोंसे आत्माको हटा लेना कालप्रतिक्रमण है। राग, द्वेष, काम आदि अशुभ भावोंके आश्रित होनेवाले दोषोंसे आत्माको हटा लेना भावप्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रतिक्रमणके छह भेद हैं। अथवा वह प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थके भेदसे सात प्रकार है। दिनमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रित होनेवाले दोषोंको मन, वचन, काय, कृत,

कारित, अनुमोदनासे शुद्ध करना दैवसिकप्रतिक्रमण है। रात्रिमें नामादिकके आश्रित होनेवाले छहों प्रकारके दोषोंको मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे शुद्ध करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। ईर्यापथ गमनमें होनेवाले छहों प्रकारके जीवसंबंधी दोषोंको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे शुद्ध करना ईर्यापथप्रतिक्रमण है। कृष्णपक्ष वा शुक्लपक्षमें से एक पक्षमें नामादिक के आश्रित होनेवाले दोषोंको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे शुद्ध करना पाक्षिकप्रतिक्रमण है। इसी प्रकार चार महिनेके दोषोंको शुद्ध करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। एक वर्षके दोषोंको शुद्ध करना सांवत्सरिक वा वार्षिकप्रतिक्रमण है। तथा जीवनपर्यंत चारों प्रकार के आहारका त्याग कर देना उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इस उत्तमार्थप्रतिक्रमणमें समस्त दोषोंका परिशोधन वा प्रतिक्रमण आजाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमणके सात भेद हैं। इस प्रतिक्रमणमें प्रतिक्रमण करनेवाला जीव होता है। वह आहार, पुस्तक, उपकरण आदि द्रव्यसंबंधी प्रतिक्रमण करता है। शय्या, आसन, स्थान आदिका प्रतिक्रमण करता है, दिन वा रात घडी आदिका प्रतिक्रमण करता है और रागद्वेष आदि भावोंका प्रतिक्रमण करता है। जिस पाठके पढनेसे वा जिन परिणामोंसे व्रत शुद्ध होते हैं दोष दूर होते हैं उस पाठको वा परिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं।

तथा जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पाप आते हों, ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। प्रतिक्रमणका जो समय नियत है उसी समयमें प्रतिक्रमण करना चाहिये। मिथ्यात्व, असंयम कषाय और अप्रशस्त योगोंका त्याग सर्वथा कर देना चाहिये, अर्थात् इनका प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण करनेके पहले सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति कर शरीर और स्थानको शुद्धकर अपने दोनों जुड़े हुए हाथ मस्तकपर रखकर विना किसी मद और गौरवके गुरुसे अपने अपराध निवेदन करने चाहिये वा आलोचना करनी चाहिये। आलोचना भी दैवसिक रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक सांवत्सरिक और उत्तमार्थके भेदसे सात प्रकारकी होती है। मुनियोंको विना किसी आकुलताके मन, वचन, कायसे किये हुए समस्त अपराधोंकी आलोचना करनी चाहिये। जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपराध हुआ है उसको उसी रूपसे गुरुके समक्ष निवेदन कर देना चाहिये। आलोचन, निंदा, गर्हा, उसी समय करलेनी चाहिये उसमें देर नहीं करनी चाहिये। क्यों कि आलोचन, निंदन, गर्हणके लिये तैयार हुए मुनिके भाव प्रतिक्रमण माना जाता है। यदि प्रतिक्रमण भावपूर्वक न किया जाय तो केवल द्रव्यप्रतिक्रमणसे दोष दूर नहीं होता। भावपूर्वक प्रतिक्रमण करनेसे अनंत कर्मोंकी निर्जरा होती है। भगवान् अजितनाथसे

लेकर पार्श्वनाथ तकके समयमें अधिक अपराध नहीं होते, इसलिए उस समय अपराधोंके होनेपर ही प्रतिक्रमण किया जाता है। परंतु भगवान् वृषभदेव और महावीर स्वामीके समयमें मुनियोंका समस्त धर्म प्रतिक्रमणपूर्वक ही बतलाया है। चाहे अपराध हो वा न हो, प्रत्येक क्रियामें प्रतिक्रमण करना पडता है और समस्त दंडकका उच्चारण करना पडता है। इस प्रकार प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा।

अब आगे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं—

सावद्यभावसमयादिकसर्ववस्तु।
त्यागं विधाय खलु तद्रहिते प्रवृत्तिम्।
कुर्वन् रतिं निजसुखे स्वगृहे स्थितो य-
स्तं नौमि विश्वसुखदं विमलं मुनीन्द्रम्॥२७

अर्थ—जो मुनिराज पापरूप भावोंका समयका व क्षेत्रादिकका सबका त्याग कर पापरहित क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं तथा अपने आत्मसुख में लीन होते हुए अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें निश्चल रहते हैं ऐसे तीनों लोकोंको सुख देनेवाले और अत्यंत निर्मल मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—पापोंके कारणोंको मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।

उस प्रत्याख्यानके भी नाम स्थापना आदिके भेदसे छह भेद होते हैं। पापके कारणभूत वा विरोधके कारणभूत नामोंको न कहना न कहलवाना न कहनेमें सम्मति देना नामप्रत्याख्यान है। मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति करनेवाली वा अपरमार्थभूत देवोंकी स्थापना करने करानेका त्याग कर देना स्थापनाप्रत्याख्यान है। पापके कारणभूत द्रव्योंको वा तपश्चरणके लिये त्याग किये हुए द्रव्योंको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग कर देना द्रव्य प्रत्याख्यान है। असंयमके कारणभूत क्षेत्रोंका त्याग कर देना क्षेत्रप्रत्याख्यान है। असंयमके कारणभूत कालका त्याग कर देना कालप्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदिका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग कर देना भावप्रत्याख्यान है। अतीत कालके दोषोंको शुद्ध करना प्रतिक्रमण है और अतीत अनागत वर्तमानकालके दोषोंका त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। अथवा अतिचारोंको शुद्ध करना प्रतिक्रमण है और अतिचारके कारणोंका त्याग कर देना वा तपश्चरणके लिये प्रासुक द्रव्योंका भी त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान करनेवाला, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान करने योग्य द्रव्य इस प्रकार इस प्रत्याख्यानके भी तीन भेद होते हैं। संयमको धारण करनेवाला

जीव प्रत्याख्यान करनेवाला कहलाता है। त्याग करनेके परिणामोंको प्रत्याख्यान कहते हैं और सचित्त अचित्त वा मिश्र पदार्थ, क्रोधादिक कषाय, अभक्ष्य वा भक्ष्य आहार आदि सब प्रत्याख्यान करने योग्य द्रव्य कहलाते हैं।

यह प्रत्याख्यान मूलगुणोंमें भी होता है और उत्तरगुणोंमें भी होता है। तथा इसके अनेक भेद होते हैं। अथवा अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वानगत और सहेतुकके भेदसे इस प्रत्याख्यानके दश भेद होते हैं। चतुर्दशीके दिन उपवास करनेके लिये त्रयोदशीको नियम ले लेना अनागत प्रत्याख्यान है। जो उपवास चतुर्दशीको करना चाहिये उसे प्रतिपदाके दिन करना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है। यदि कल स्वाध्याय करनेसमय तक उपवास करनेकी शक्ति रहेगी तो उपवास करूंगा नहीं तो नहीं ऐसे प्रत्याख्यानको कोटी वा विकल्पसहित प्रत्याख्यान कहते हैं। पाक्षिक आदिके दिन उपवास अवश्य करना चाहिये इस प्रकारके उपवास करनेको निखंडित प्रत्याख्यान कहते हैं। सर्वतोभद्र, कनकावली, आदि व्रतोंमें जो उपवास करने पडते हैं उसको साकार प्रत्याख्यान कहते हैं। अपनी इच्छानुसार चाहे जब उपवास कर लेना अनाकार प्रत्याख्यान है। एक दिन उपवास दूसरे दिन आहार अथवा दो उपवास एक आहार इस

प्रकारके उपवास करनेको परिमाणगतप्रत्याख्यान कहते हैं। जीवनपर्यंत चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना अपरिशेषप्रत्याख्यान है। मार्गमें वन आजानेसे वा नदी पार करनेसे जो उपवास करना पडता है उसको अध्वानगतप्रत्याख्यान कहते हैं। उपसर्गादिकके कारण उपवास करनेको सहेतुकप्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्याख्यानके दश भेद हैं।

यह प्रत्याख्यान विनयपूर्वक, अनुभाषापूर्वक, अनुपालनपूर्वक और परिणामपूर्वक करना चाहिये। सिद्धभक्ति, योगभक्ति, गुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्मविनय है। हाथ जोडकर मस्तकपर रखना मस्तकको झुकाना तथा शरीरको शांत रखकर दोनों हाथोंमें पिंछी लेकर वक्षःस्थलपर रखना उपचारविनय है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमें विनय करना वा इनको धारण करना इन तीनोंकी विनय है। इस प्रकार पांचो प्रकारकी विनयके साथ प्रत्याख्यान करना चाहिये। यह विनय प्रत्याख्यान है। 'इच्छामि भंते' इत्यादि पाठको जिस प्रकार गुरु उच्चारण करें, उसी प्रकार उसी क्रमसे उच्चारण करना अनुभाषापूर्वकप्रत्याख्यान कहलाता है। किसी आकस्मिक होनेवाली व्याधिमें, किसी उपसर्गमें, उपवासादिकके परिश्रममें, दुर्भिक्षमें, वनमें तथा ऐसे ही अन्य कारणोंमें भी लिए हुए प्रत्याख्यानका त्याग नहीं

करना, उसकी रक्षा करना, प्रत्याख्यानका भंग न करना अनुपालनपूर्वकप्रत्याख्यान कहलाता है। रागद्वेष आदि परिणामोंके कारण जिस प्रत्याख्यानमें किसी प्रकारका दोष न आवे वह प्रत्याख्यान परिणामपूर्वकप्रत्याख्यान कहलाता है। जो मुनि रत्नत्रयसे सुशोभित होते हैं, सब प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित होते हैं, वीतराग होते हैं, समता और अहिंसादि महाव्रतोंसे पूर्ण व शुद्ध भावोंको धारण करनेवाले होते हैं, उनके परिणामशुद्धप्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार संक्षेपसे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा।

अब आगे कायोत्सर्गका स्वरूप कहते हैं।

चिन्मात्रमूर्तिरिति मेऽस्ति सुखी सदात्मा।
ज्ञात्वा तनौ च विषये स्वजने विरागी॥
भूत्वा भवेदनुपमे स्वसुखे सरागी।
वंद्यः स एव सकलैश्च मयापि पूज्यः॥२८॥

अर्थ—" मेरा यह आत्मा केवल चैतन्यस्वरूप है और सदा आनंदस्वरूप है " यही समझकर जो मुनिराज अपने शरीरसे इन्द्रियोंके विषयोंसे और कुटुंबीजनोंसे विरक्त होकर समस्त उपमाओंसे रहित अपने आत्मजन्य सुखमें अनुराग धारण करते हैं ऐसे कायोत्सर्गको धारण करनेवाले वे मुनिराज इन्द्रादिक समस्त देवादिकोंके द्वारा

वंदनीय माने जाते हैं और मेरे द्वारा भी पूज्य माने जाते हैं।

भावार्थ—शरीरसे ममत्वका त्याग कर पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना कायोत्सर्ग है। यह कायोत्सर्ग भी नाम, स्थापना आदिके भेदसे छह प्रकार है। किसी पापरूप नामका उच्चारण करनेसे लगे हुए दोषोंको शुद्ध करनेके लिये कायोत्सर्ग करना नामकायोत्सर्ग है। पापरूप स्थापनाके द्वारा लगे हुए दोषोंको शुद्ध करनेकेलिये कायोत्सर्ग करना स्थापनाकायोत्सर्ग है। पापरूप द्रव्यके सेवन करनेसे लगे हुए दोषोंको शुद्ध करनेके लिये कायोत्सर्ग करना द्रव्य कायोत्सर्ग है। पापरूप क्षेत्रकेद्वारा लगे हुए दोषोंको शुद्ध करनेके लिये कायोत्सर्ग करना क्षेत्र कायोत्सर्ग है। पापरूप कालमें किये हुए आचरणोंके द्वारा लगे हुए दोषोंको शुद्ध करनेके लिये कायोत्सर्ग करना कालकायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व आदिके दोषोंको शुद्ध करनेके लिये कायोत्सर्ग करना भावकायोत्सर्ग है।

इसमें भी कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग करनेवाला और कायोत्सर्गके कारण, इस प्रकार कायोत्सर्ग निरूपण करनेके तीन भेद हैं।

जो मुनिराज अपने दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर देकर खडे होते हैं अपनी दोनों भुजाओंको लंबी लटका देते हैं और अपने शरीरके समस्त अवयवोंको निश्चल रखते हैं तथा ऐसी अवस्था धारण कर जो पंचपरमेष्ठि

का ध्यान करते हैं उसको कायोत्सर्ग कहते हैं। जो मुनि-राज मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, निद्राको जीतते हैं, शास्त्रज्ञानमें निपुण होते हैं, क्रिया वा परिणामोंसे शुद्ध होते हैं, जिनका आत्मा विशुद्ध होता है, तथा जो आत्म-शक्ति, शरीरशक्ति और क्षयोपशमशक्तिको धारण करते हैं, ऐसे वे मुनिराज कायोत्सर्ग करनेवाले माने जाते हैं। यह कायोत्सर्ग घातिया कर्मोंको नाश करनेवाला है, मोक्षमा-र्गका उपकार करनेवाला है और भगवान् जिनेंद्रदेव भी इसको धारण करते हैं। इसीलिए मुनिराज इसको धारण करनेकी इच्छा करते हैं। जब कभी चलनेमें अतिचार लगता है, कषायोंके निमित्तसे गुप्तियोंमें दोष लगता है, ब्रह्मचर्यमें दोष लगता है, छहों प्रकारोंके जीवोंके निमित्तसे अतिचार लगता है वा भय, मद आदिसे दोष लगता है तब उन दोषोंको नाश करनेके लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। तथा कायोत्सर्गमें यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस कायोत्सर्गके समयमें मैं सब प्रकारके उपसर्गोंको सहन करूंगा। अथवा किसी भी प्रकार के उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग अवश्य करना चाहिये।

इस कायोत्सर्गका उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अंतर्मुहूर्त है। मध्यके अनेक भेद हैं।

दैवसिकप्रतिक्रमणमें एकसौ साठ श्वासोच्छ्वाससे अतिक्रमण करना चाहिये। रात्रिप्रतिक्रमणमें चौअनसे,

पाक्षिक प्रतिक्रमणमें तीनसौ श्वासोच्छ्वाससे करना चाहिये ।
वीरभक्ति, सिद्धभक्ति, तीर्थंकरभक्ति आदि भक्तियोंके
अनंतर सत्ताईस श्वासोच्छ्वासोंसे कायोत्सर्ग करना
चाहिये । चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चारसौ श्वासोच्छ्वा-
सोंसे तथा वार्षिक प्रतिक्रमणमें पांचसौ श्वासोच्छ्वासोंसे
कायोत्सर्ग करना चाहिये । पांचों महाव्रतोंके अतिचारोंमें
एकसौ आठ श्वासोच्छ्वासोंसे कायोत्सर्ग करना
चाहिये । आहार करनेके अनंतर, एक गांवसे दूसरे गांव
पहुंचनेपर, भगवान् जिनेन्द्रदेवके दीक्षाकल्याणक, जन्म-
कल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक, मोक्षकल्याणक और
समवसरणके स्थानोंपर पहुंच कर तथा मुनियोंकी निष-
द्यास्थानपर पहुंचनेपर और मलमूत्र करनेके अनंतर पच्चीस
श्वासोच्छ्वासोंसे कायोत्सर्ग करना चाहिये । किसी ग्रंथके
प्रारंभ वा समाप्तिके समय, स्वाध्यायके समय वंदनाके
समय तथा किसी प्रकारके अशुभपरिणामके होनेपर
सत्ताईस श्वासोच्छ्वासोंसे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

" जिन जिन दोषोंके लिये कायोत्सर्ग किया जाता
है उन उन दोषोंसे उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षय हो "
यही भावना कायोत्सर्गमें रक्खी जाती है । कायोत्सर्गमें
जिस दोषके नाशके लिये कायोत्सर्ग किया गया है उसी
दोषके नाशका चिंतवन करना चाहिये तथा अंतमें धर्म-
ध्यान वा शुक्लध्यानका चिंतवन करना चाहिये । समस्त

कायोत्सर्गोंके अंतमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिंतवन करते रहना चाहिये। जिस प्रकार कायोत्सर्ग करनेमें शरीरके अंग उपांगोंकी संधियां अलग अलग हो जाती हैं उसी प्रकार कर्मोंके समूह भी सब अलग अलग हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

यह कायोत्सर्ग नीचे लीखे दोषोंको टालकर अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये। जो मुनि घोडेके समान एक पैर उठाकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके घोटकदोष लगता है। जो लताके समान शरीरको हिलाते हुए कायोत्सर्ग करते हैं उनके लता नामका दोष लगता है। किसी खंभेके आश्रय खडे होकर कायोत्सर्ग करना स्तंभदोष है। किसी दिवालके सहारे खडे होकर कायोत्सर्ग करना कुड्यदोष है। किसी पाट आदि पर खडे होकर कायोत्सर्ग करना मालदोष है। भिल्लिनी के समान अपनी जंघाओंसे जंघाओंको रगडते हुए कायोत्सर्ग करना शबरवधूदोष है। बेडी पडे हुए पैरोंके समान अपने पैरोंको दूर दूर रखकर कायोत्सर्ग करना निगडदोष है। कायोत्सर्ग करते समय ऊंचेको उचकना वा नीचा होना लंबोत्तरदोष है। कायोत्सर्ग करते समय अपने स्तनोंको देखते जाना स्तनदृष्टिदोष है। कायोत्सर्ग करते समय काकके समान इधर उधर देखते रहना वायसदोष है। लगामसे पीडित हुए घोडेके समान दांतोंको

कटकटाते हुए कायोत्सर्ग करना खलीनदोष है। जूआसे दुःखी बैलके समान कंधोंको फैलाकर कायोत्सर्ग करना युगदोष है। कैथके समान मुठी बांधकर कायोत्सर्ग करना कपित्थदोष है। कायोत्सर्ग करते समय मस्तकको हिलाते रहना शिरःप्रकंपितदोष है। कायोत्सर्गमें मूकके समान मुख वा नासिकाको विकृत करना मूकदोष है। कायो-त्सर्गके समय उंगलियोंको गिनना अंगुलिदोष है। कायो-त्सर्ग करते समय भोंह चलाना भ्रूविकारदोष है। मद्यपा-यीके समान घूमते हुए कायोत्सर्ग करना मद्यपायीदोष है। कायात्सर्ग करते समय दश दिशा-ओंकी ओर देखना दिगवलोकन नामके दश दोते हैं। कायोत्सर्गके समय अपनी गर्दनको ऊंचा करना ग्रीवोन्नमनदोप है। कायोत्कर्गके समय गर्दनको नीचा करना प्रणमन दोप है। कायोत्सर्ग करते समय थूकना निष्ठीवनदोप है। और कायोत्सर्गके समय शरीरको स्पर्श करना अंगामर्श दोष है। इस प्रकार कायोत्सर्गके बत्तीस दोप हैं। इन सबका त्याग कर देना चाहिये। तथा विना किसी माया चारीके अपनी शक्तिके अनुसार समस्त दुःखोंका दूर करनेके लिये कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय किसी वृद्ध वा रोगी मुनिके साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिये। जो स्पर्धा करता है उसे अज्ञानी और दोनों लोकोंको विगाडनेवाला समझना चाहिये।

कायोत्सर्ग करनेवालेको अपना मन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमें, संयममें, त्यागमें, ध्यानमें, ग्यारह अंग चौदह पूर्वमें, महाव्रतोंमें, समाधिमें, दश धर्मोंमें, इन्द्रिय कषायोंके निग्रहमें और मोक्षमें लगाना चाहिये। उस समय ऐहिक किसी भी काममें मन नहीं लगाना चाहिये । इस प्रकार संक्षेपसे कायोत्सर्गका निरूपण किया।

जो मुनिराज इन छहों आवश्यकोंका प्रतिपालन करते हैं वे अवश्य ही सिद्ध होते हैं। यदि किसी कारण से उनको मोक्षकी प्राप्ति न हो सके तो स्वर्गकी प्राप्ति उन को अवश्य होती है। मन वचन कायको शुद्धकर मौन धारण कर और निश्चल चित्त होकर नियत समय पर छहो आवश्यक करने चाहिये। इस प्रकार छहों आवश्यकोंका स्वरूप कहा।

आगे इनका उपसंहार लिखते हैं—

संसारसिंधुपथसः परिपारगन्तु–
स्त्रातुस्तथा भववने भ्रमतां जनानाम् ।
तत्त्वानुचिन्तनरतस्य मुनेः कृपाब्धे–
रावश्यकानि कथितानि मया हिताय ॥२९॥

अर्थ–जो मुनिराज इस संसाररूपी समुद्रके दुःखरूपी जलसे पार जानेवाले हैं, इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण

करनेवाले लोगोंकी रक्षा करनेवाले हैं, कृपाके समुद्र हैं, और जीवादिक तत्त्वोंके चिंतवन करनेमें सदा लीन रहते हैं ऐसे मुनियोंके हितके लिये मैंने इन छहों आवश्यकोंका निरूपण किया है।

भावार्थ— मुनियोंका हित वा कल्याण इन छहों आवश्यकोंके पालन करनेसे ही होता है। इसीलिये मैंने इन छहों आवश्यकोंका निरूपण किया है।

आगे शेष सात गुणोंके कहनेके लिये प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीकुंथुसिंधुकविनात्मरतेन शान्त्यै।
लोचादयोऽथ खलु सप्तगुणा यथार्थाः।
वर्ण्यन्त एव विमलाकृतिनः कृपाब्धे-।
र्मोहाग्निदग्धजनशान्तिकरस्य साधोः॥३०॥

अर्थ— अब आगे समस्त संसारमें शांति स्थापन करनेके लिये अपने आत्मामें लीन रहनेवाला मैं महाकवि श्रीकुंथुसागर आचार्य मोहरूपी अग्निसे दग्ध हुए संसारी जीवोंको शांत करनेवाले, परम कृपालु और अपने आत्म-कर्तव्यको पालन करनेवाले साधुओंके निर्मल और यथार्थ ऐसे लोच आदि शेष सातों गुणोंका निरूपण करता हूं।

भावार्थ— अब आगे लोच आदि गुणोंका निरूपण करते हैं।

उसमें भी सबसे पहले केशलोच गुणका निरूपण करते हैं।

तनोर्विरक्तो ह्युपवासपूर्वं ।
लोचं द्वितीयादिकमास एव ।
कुर्वन्सदा याचनदोषमुक्त-
स्तिष्ठेन्निजे यः स च वंद्यसाधुः ॥ ३१ ॥

अर्थ— जो मुनिराज याचनादोषसे रहित होकर और शरीरसे विरक्त होकर उपवासपूर्वक दूसरे तीसरे वा चौथे महिनेमें सदा केशलोच करते हैं और सदा काल अपने आत्मामें लीन रहते हैं ऐसे वे साधु वंदनीय साधु कहलाते हैं।

भावार्थ—बालोंका बढना शरीरके साथ स्वाभाविक है। बाल बढनेपर उनमें जूं आदि अनेक जीव पड जाते हैं तथा उनकी हिंसा होती रहती है। यदि उन बालोंको प्रतिदिन धोया जाय तो धोनेके काढनेके सब सामान इकट्ठे करने पडेंगे और इस प्रकार बहुतसा परिग्रह इकट्ठा करना पडेगा। यदि उन बालोंको बनवाया जाय तो बन-वानेके लिये याचना करनी पडेगी या देनेके लिये पैसे रखने पडेंगे। परंतु मुनिराज न तो किसीसे किसी प्रकारका याचना ही करते हैं और न किसी प्रकारका परिग्रह ही रखते हैं। अत एव वे मुनिराज उन केशोंका लोच ही कर देते हैं। किसीसे किसी प्रकारकी याचना भी न करनी

पडे, किंचिन्मात्र परिग्रह भी न रखना पडे और किसी जीवकी हिंसा भी न हो इन सबका एक मात्र उपाय केशोंका लोच करना है। केशलोच करनेसे शरीरसे ममत्वका त्याग समझा जाता है, परीषहोंका सहन होता है, तपश्चरणकी वृद्धि होती है, जिन लिंगके वा उत्कृष्ट साधुओंके सर्वोत्तम गुण प्रगट होते हैं, अपनी शक्ति प्रगट होती है और रागादिकका अभाव प्रगट होता है। यह केशलोच दो महीने पूर्ण होनेपर वा दो महीनेके भीतर करना उत्कृष्ट लोच गिना जाता है, तीन महीने पूर्ण होनेपर वा तीन महीनेके भीतर करना मध्यम गिना जाता है, और चार महीने पूर्ण होनेपर वा चार महीनेके भीतर करना जघन्य कहा जाता है। केशलोचके दिन प्रतिक्रमण और उपवास अवश्य करना चाहिये। अथवा प्रतिक्रमणके दिन उपवास पूर्वक केशलोच करना चाहिये। केशलोच करनेके पहले सिद्धभक्ति आदि शास्त्रोक्त भक्तियां पढनी चाहिये तथा केशलोच करनेके अनंतर प्रतिक्रमण करना चाहिये। यह केशलोच दाढी मूछ मस्तकका ही होता है अन्य स्थानों का केशलोच नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि कांख वा अधोभागके केश अधिक नहीं बढते, थोडेसे बढ कर ही रह जाते हैं इसलिये उनमें जीव जन्तु उत्पन्न नहीं हो सकते। इसप्रकार संक्षेपसे केशलोच गुणका निरूपण किया।

अब आगे अचेलकत्व वा नग्नत्वगुणका निरूपण करते हैं।

आदाय वस्त्ररहितं जिनशुद्धलिंगं।
कुर्वन् रतिं निजपदे स्वसुखे सदा यः।
लोके शशीव विमलश्चलतीह शान्त्यै।
साधुं नमामि सकलेन्द्रियनिर्विकारम् ॥२२॥

अर्थ—जो मुनिराज सब प्रकारके वस्त्रोंका त्यागकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके शुद्धलिंगको धारण कर अपने आत्मामें वा आत्मजन्य सुखमें लीन रहते हैं और समस्त संसारमें शांति स्थापना करते हुए चन्द्रमाके समान निर्मल अवस्था धारण कर विहार करते हैं ऐसे समस्त इन्द्रियोंके विकारोंसे रहित उन साधुओंको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—मुनिराज न तो किसी वस्त्रसे अपने शरीरको ढकते हैं, न किसी छाल वा पत्तोंसे अपने शरीरको ढकते हैं, न किसी चमडेसे ढकते हैं और न किसी प्रकारके आभूषण पहनते हैं। उत्पन्न होते समय बालककी जो अवस्था होती है वैसी ही वस्त्राभूषण रहित निर्विकार अवस्था मुनियोंकी होती है। इसीलिये मुनियोंके शरीरको जातमुद्रा कहते हैं। नग्न अवस्था धारण करनेसे मुनियोंकी निर्विकार अवस्था प्रगट होती है। जिनके हृदयमें किंचित्

भाव भी विकार होता है वह मनुष्य कभी भी नग्न नहीं हो सकता। हृदयमें होनेवाले विकार ही वस्त्रधारण कराते हैं। यदि विकार होते हुए कोई नग्न होता है तो उसके हृदयकी वह विकार अवस्था स्वयं प्रगट होजाती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जहां जहां विकार है वहां वहां नग्न अवस्था कभी नहीं होसकती। नग्नअवस्था वहीं होसकती है जहां कोई किसी प्रकारका विकार नहीं होता। अत एव जो निर्विकार होते हैं वे ही नग्नअवस्था धारण कर सकते हैं। यही कारण है कि उन निर्विकार मुनियोंको देखकर किसीके हृदयमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार निर्विकार बालक वा बालिका-को देखकर किसी स्त्री वा पुरुषके हृदयमें विकार नहीं होता उसी प्रकार निर्विकार मुनियोंको नग्न अवस्थामें देख-नेपर भी किसी स्त्रीको किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार निर्विकार बालकपर सब स्त्री पुरुष अनुराग रखते हैं उसी प्रकार निर्विकार मुनि-योंपर सब लोग अनुराग वा भक्ति रखते हैं। यही कारण है कि मुनिराजोंको आने जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं है। वे राजाओंके अंतःपुर तक भी जाते हैं और समस्त रानियां वा स्त्रियां भक्तिवश उनके हाथ जोडती हैं, और उनको नमस्कार करती हैं।

यह नग्नावस्था अत्यंत कठिन है। जिन महापुरु-

षोंके मोहनीय कर्मका उदय अत्यंत मंद होता है और पुण्यंकर्मका उदय तीव्र होता है ऐसे राजा महाराजाओंके घरानेके पुरुष वा अन्य श्रेष्ठ और उच्च घरानेके महापुरुष ही जिनदीक्षा धारण कर सकते हैं । इतिहाससे भी यह बात सिद्ध होती है । पहले समयमें अधिकतर राजपुरुष अपनी योग्य संतानको राज्य देकर जिनदीक्षा धारण कर लेते थे । तीर्थंकर सब राजघरानेमें ही उत्पन्न होते हैं । अर्वाचीन इतिहास से भी यह बात सिद्ध होती है । भारतवर्षमें श्रवणवेलगोला आदि कितने स्थानोंके शिलालेखोंसे अनेक राजाओंकी जिनदीक्षा धारण करने का कथन मिलता है । तथा अनेक राजाओंकी दिगंबर मुनियोंके प्रति गाढ भक्तिका परिचय मिलता है ।

यह नग्न अवस्था सर्वत्र पूज्य मानी जाती है । जैनियोंके सिवाय यजुर्वेद, भागवतपुराण, प्रभासपुराण, वैराग्यशतक, उपनिषद्, बृहत्संहिता, कुसुमांजलि, पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, कूर्मपुराण आदि अनेक अजैन ग्रंथोंमें इस नग्न अवस्थाको पूज्य माना है । इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त करनेके लिए यह नग्न अवस्था ही सर्वोत्तम उपाय है । विना नग्नावस्था धारण किये मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । इस प्रकार संक्षेपसे नग्नत्व गुणका निरूपण किया ।

अब आगे स्नानरहितत्व गुणका निरूपण करते हैं।

दृग्बोधवृत्तसमताधृतिशान्तिनीर- ।
स्नानेन शुध्यति निजात्ममयेन चात्मा ।
स्नानं करोति पयसः प्रविहाय बुध्वा ।
स्वात्माम्बुतो निजमतिः स मुनिश्च वंद्यः॥२३

अर्थ— यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, समता, धृति, और शांतिरूपी जलके स्नानसे शुद्ध होता है। यही समझकर जो मुनि जलके स्नानका त्याग कर देते हैं और अपने आत्माके शुद्धस्वरूपसे स्नान करते है ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेवाले वे मुनि वंदनीय गिने जाते हैं।

भावार्थ— मुनिराज आजन्म स्नानके त्यागी होते हैं। स्नान न करनेके कारण यद्यपि उनके शरीरपर पसीना धूल, मिट्टी आदिका मैल जम जाता है तथापि वे मुनिराज इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम दोनों प्रकारके संयमकी रक्षा करनेके लिये कभी स्नान नहीं करते हैं। स्नान करनेके लिये जल मांगना पडता है तथा अनेक प्रकारके जीवोंका घात होता है। स्नान न करनेसे उन जीवोंकी हिंसा भी बच जाती है, याचना करनेका महादोष भी नहीं लगता और इन्द्रियां सब वशमें हो जाती हैं। मुनिराज

महा गुणी होते हैं, उन्हें अपने निर्मलचारित्रका अभिमान होता है। अत एव वे मुनिराज अपने निर्मलचारित्रको पालन करनेके लिए वा अहिंसामहाव्रतको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिए जलसे स्नान कर अपने शरीरको सुख नहीं पहुंचाते। किंतु व्रत और चारित्रको निर्मल रीतिसे पालन कर आत्मा और शरीर दोनोंको शुद्ध बना लेते हैं। व्रत और चारित्रके द्वारा उनका आत्मा तो परम शुद्ध हो ही जाता है तथा उसके साथ साथ रहनेवाला उनका शरीर भी शुद्ध हो जाता है। जलसे आत्माकी शुद्धि तो होती ही नहीं किंतु शरीरकी शुद्धि भी नहीं होती है। यदि जलसे शरीरकी शुद्धि मान ली जाय तो पानीमें रहनेवाली मछलियां, मगर, मच्छ, मेंडक आदिका शरीर सदाकाल शुद्ध मानना चाहिये। परंतु संसारमें उनके शरीरको कोई शुद्ध नहीं मानता और कभी स्नान न करनेवाले मुनियोंका शरीर परम शुद्ध और पवित्र माना जाता है। यहां तक कि उनके चरणोंकी धूलिको भी राजा महाराजा तथा इन्द्रादिक देव अपने मस्तक पर धारण करते हैं तथा मुनियोंके चरण जहां जहां पडते हैं उस भूमिको तीर्थस्वरूप पवित्र मानते हैं। यह उनके व्रत और चारित्रका ही माहात्म्य है। जिन लोगोंके हृदयमें कामादिकका विकार होता है वे ही लोग स्नान, चंदन, लेप, वस्त्र, आभूषण आदि के द्वारा शरीरको

सुसज्जित करते हैं। किंतु जो मुनि सर्वथा निर्विकार हैं, जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, काम आदि समस्त विकार नष्ट कर दिये हैं उन्हें स्नान आदिकी कभी आवश्यकता ही नहीं होती। वे तो अपने शरीरको भी अपनेसे भिन्न समझते हैं और इसीलिए वे उससे कभी मोह नहीं करते। यही कारण है कि वे मुनिराज समस्त परीषह और समस्त उपसर्गोंको सहन करते हैं। जो लोग रागी हैं वस्त्रादिक पहनते हैं वे ही लोग जलसे स्नान करते हैं। मुनिलोग तो अपने शरीरसे भी विरक्त हैं, फिर भला वे अनेक जीवों की हिंसा करनेवाला जलस्नान कैसे कर सकते हैं। इसलिए वे मुनिराज आजन्म जलस्नानके त्यागी होते हैं।

जब कभी चांडालादिकके शरीरसे मुनियोंके शरीर का स्पर्श हो जाता है तब वे मुनि दंडस्नान करते हैं, अर्थात् अपने कमंडलुसे मस्तकपर जलकी धारा छोडते हैं। और जब तक वह धारा पैरोंतक न आ ज़ाय तब तक छोडते रहते हैं। जब वह धारा पैरोंतक आ जाती तब उसे बंद कर देते हैं तथा वे मुनि उस दिन उपवास करते हैं। यदि उस दिन उन्होंने आहार ले लिया हो तो दूसरे दिन उपवास करते हैं। इस प्रकार उस दंडस्नानसे तथा उस उपवाससे उनकी स्पर्शजन्य अशुद्धि दूर हो जाती है। इस प्रकार स्नानरहितत्वगुणका निरूपण किया।

अब आगे भूमिशयन गुणका निरूपण करते है।

पृथ्वीशिलातृणमये शयनं प्रकुर्वन् ।
यः स्वात्मसौख्यघटिते स्वपदे सदा वै ।
जाग्रंस्तथा सुखकरेऽखिलविश्वकार्ये ।
गुप्तोऽस्ति शान्तिनिलये स यतिः प्रपूज्यः ॥३४

अर्थ— जो मुनिराज पृथ्वीपर, पत्थरकी शिलापर, वा घास फूसकी शय्यापर शयन करते हैं अथवा आत्माको मोक्षरूप सुख देनेवाले समस्त कार्योंमें सदाकाल जगते हुए और शांतिके परमस्थान ऐसे अपने आत्मामें लीन हुए जो मुनिराज अपने आत्माके अनंत सुखस्वरूप शुद्ध आत्मामें सदा काल शयन करते रहते हैं ऐसे वे मुनिराज सदा काल पूज्य माने जाते हैं ।

भावार्थ— मुनिराज सदा काल प्रासुकस्थानमें ही शयन करते हैं, तथा प्रासुक स्थानमें भी ऐसे स्थानमें शयन करते हैं जहां किसी प्रकारका कलह न हो, परिणामोंमें संक्लेशता उत्पन्न न हो और जहां शयन करनेमें किसी प्रकारकी जीव हिंसा न हो। इसके सिवाय वे मुनिराज ऐसे स्थानपर शयन करते हैं जो बहुत छोटा हो जिसपर पूरे पैर पसार कर न सो सकें तथा जिसपर कुछ बिछा न हो। इसका भी कारण यह है कि छोटे स्थानमें

शयन करनेसे संयमका अधिक विघात नहीं होता। यदि भूमि वा शिला हो तो उसे देख शोध लेना चाहिये, यदि तृणकी शय्या हो तो उसे स्वयं देख शोधकर बिछाना चाहिये। किसी दूसरेसे नहीं बिछवाना चाहिये। अथवा जो तृणादिककी शय्या अपने शुद्ध चारित्रके योग्य हों ऐसी भूमि, शिला, काष्ठ, तृण आदिकी शय्यापर शयन करना चाहिये। मुनियोंको ऐसे स्थानपर शयन करना चाहिये जो एकान्त हो, जहांपर स्त्रियोंका आना जाना न हो, नपुंसक वा हिजडोंका आना जाना न हो, पशुओंका संचार न हो और असंयमी लोगोंका संचार न हो। ऐसे स्थानमें मुनियोंको दंडके समान एक बगलसे शयन करना चाहिये, अथवा धनुषके समान अपने दोनों पैर समेट कर एक बगलसे शयन करना चाहिये। मुनियोंको नीचेको मुख कर उलटकर कभी नहीं सोना चाहिये तथा ऊपरकी ओर मुख कर शयन करनेमें अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिए ऐसे शयन का निषेध है। वे मुनिराज इंद्रियसुखोंका सर्वथा त्याग करनेके लिए, तपश्चरणकी भावना बढानेके लिए और शरीरसे निस्पृह होनेके लिए ही भूमि काष्ठ पाषाण वा तृणकी शय्यापर शयन करते हैं। मुनिराज बहुत थोडी निद्रा लेते हैं। जितनी निद्रासे शरीरका आलस्य दूर हो जाय उतनी ही निद्रा लेते हैं

शेष समय में बारह भावनाओंका चिंतवन करते रहते हैं वा ध्यान करते रहते हैं। मुनिराज दिनमें कभी नहीं सोते इस प्रकार भूमिशयन गुणका निरूपण किया।

अब आगे अदन्तधावनव्रतका निरूपण करते हैं।

दन्तादिघर्षणविधिं प्रविहाय शान्त्यै,
शृंगारवर्जितवपुर्ममतापहारी।
स्वात्मानुभूतिरसिकः स्वसुखानुरागी।
लीनोऽस्ति यो निजगृहे स च वन्दनीयः।३५।

अर्थ—वे मुनिराज इस संसारमें परमशान्ति प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारके दंतधावनका त्याग कर देते हैं तथा अपने शरीरके शृंगारका सर्वथा त्याग कर देते हैं और अपने शरीरसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देते हैं। वे मुनिराज सदाकाल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते रहते हैं, अपने आत्माके अनंत सुखमें अनुराग रखते हैं और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहते हैं। ऐसे वे मुनिराज सदाकाल वंदनीय माने जाते हैं।

भावार्थ—मुनिराज जीवनपर्यंत दंतधावनके त्यागी होते हैं। उंगली, नख, दतौन, तृण, पत्थर किसी वृक्षकी छाल, खप्पर, बत्ती आदि किसी पदार्थसे भी वे

अपने दांतोंको नहीं घिसते हैं । दांतोंके घिसनेमें अनेक जीवोंकी बाधा होती है, तथा जीवोंकी बाधा होनेसे संयमका घात होता है । अत एव संयमकी रक्षा करनेके लिये, अपनी वीतरागता प्रगट करनेके लिये और भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञा पालन करनेके लिये वे मुनिराज कभी दंतधावन नहीं करते हैं । वे मुनिराज सब प्रकारके शृंगार आदिका त्याग कर देते हैं तथा शरीरसे भी ममत्वका सर्वथा त्याग कर देते हैं । इस कारणसे भी उनको दंतधावनकी आवश्यकता नहीं होती है । इस प्रकार दंतधावनका सर्वथा त्याग कर देना अदंतधावनत्वगुण है ।

आगे–स्थितिभोजन वा खडे होकर आहार लेनेके गुणको कहते हैं ।

यावद्बलं मम तनौ प्रविहाय लोभं ।
स्थित्वा करोमि निजपाणिपुटेऽल्पभुक्तिम् ।
स्थानत्रिकेऽतिविमले निजशुद्धभावं ।
ध्यायन् स एष कथितः स्थितिभुक्तसाधुः ३६

अर्थ– मेरे शरीरमें जबतक बल है तबतक मैं लोभको छोडकर तथा खडे होकर अपने करपात्रमें थोडासा भोजन करूंगा, तथा वह भी तीनों स्थानोंकी शुद्धि होने-

पर करूंगा और उस समय भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करता रहूंगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेवाले साधुओंके स्थितिभोजन नामका उत्तम गुण होता है।

भावार्थ—वे मुनिराज खडे होकर आहार लेते हैं। खडे होनेमें भी अपने दोनों पैरों में चार अंगुलका अंतर देकर खडे होते हैं। तथा उस समय दीवाल वा खंभा आदि किसीका सहारा नहीं लेते। जहांपर वे खडे होते हैं उस स्थानको भी अच्छी तरह देख लेते हैं तथा पीछीसे शुद्ध कर लेते हैं, तथा जिस स्थानपर अपनी झूठन गिरने वाली होती है उस स्थानको भी देख लेते हैं और शुद्ध कर लेते हैं और जहां आहार देनेवाला खडा होता है उस स्थानको भी देख शोध लेते हैं। इस प्रकार तीनों स्थानों को देख शोधकर शुद्ध कर लेते हैं। तथा वे मुनिराज अपने करपात्रमें ही आहार लेते हैं। करपात्रमें आहार लेनेसे अंतराय आनेपर भी भोजनकी अधिक सामग्री वा अधिक उच्छिष्ट नहीं छोडना पडता। अधिक उच्छिष्ट छोडनेमें अधिक जीवोंको बाधा पहुंच सकती है. वा अधिक आरंभ करना पडता है। अत एव वे मुनिराज करपात्रमें ही आहार लेते हैं। अपने दोनों हाथोंको मिलाकर दोनो छोटी उंगलियोंको मिला लेते हैं। यदि उन दोनों उंगलियोंकी मिलावट छूट जाय तो फिर वे आहारका त्याग कर देते हैं। वे मुनिराज शरीरको अपना नहीं

समझते, उससे सर्वथा ममत्व छोड देते हैं, तथापि उसके द्वारा रत्नत्रयकी प्राप्ति करनेके लिये उसको आहार देते रहते हैं। उनके यह नियम रहता है कि जब तक इस शरीरमें ध्यान, स्वाध्याय आदि करनेके योग्य शक्ति रहती है तबतकही इसे आहार दूंगा, अन्यथा नहीं। तथा उस शक्तिकी परीक्षा खडे होनेसे ही हो सकती है। जब तक यह शरीर खडा हो सकता है तबतक ही ध्यान, स्वाध्याय बन सकता है। इसीके लिये वे मुनिराज खडे होकर ही आहार लेते हैं। वे बैठकर कभी आहार नहीं लेते। यदि खडे होनेकी शक्ति नहीं होती है तो आहारका त्याग कर देते हैं। इस प्रकार मुनियोंके स्थितिभोजन नामके उत्तम गुणका स्वरूप कहा।

अब आगे—एकभक्त नामके गुणका स्वरूप कहते हैं।

दृग्बोधवृत्तसमतादिविवर्द्धनार्थं ।
कुर्वन् यथोक्तसमये च किलैकभुक्तिम् ।
आद्यन्तमध्यरहिते स्वपदे पवित्रे ।
लीनोऽस्ति यो ह्यनुपमः स मुनिश्च वंद्यः ॥

अर्थ—वे मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और समता आदि गुणोंकी वृद्धिके लिए शास्त्रोंमें कहे हुए नियत समयपर एक ही बार आहार लेते हैं। वे मुनिराज सूर्योदयसे तीन घडी तक आहार

नहीं लेते, सूर्य अस्त होनेके तीन घडी पहले तक आहारसे निवट लेते हैं। और मध्यकालमें सामायिकका समय छोड देते हैं। शेष किसी एक ही समयमें आहार लेते हैं। तथा परम पवित्र ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहते हैं। ऐसे ये उपमारहित मुनि वंदनीय गिने जाते हैं।

भावार्थ—मुनियोंके आहारका समय प्रातःकाल नौब-जेसे ग्यारह बजेतक है। तथा दोपहर के अनंतर डेढ बजेसे साढे तीन बजे वा चार बजेतक है। इन दोनों समयोंमेंसे कि-सी भी एक समयमें मुनियों को आहार लेना चाहिये। मुनि-राजः प्रायः नौबजेसे ग्यारह बजे तक ही आहार लेते हैं, यही गृहस्थोंके भोजनका समय है। मुनियोंके आहार लेनेकी विधि एषणा समितिमें लिखी जा चुकी है। यहां पर इतना ही समझलेना चाहिये कि मुनिराज दिनमें एक ही वार आहार लेते हैं। आहार लेनेके अनंतर ही उस दिनके लिये अन्न-जलका त्याग कर देते हैं। फिर वे किसी प्रकारका आहार नहीं लेते। यदि कारण वश किसी मुनिका शरीर अस्वस्थ हो जाता है तो वे शुद्ध और उसी समयकी वनी हुई औषधि केवल आहारके ही समयमें लेते हैं। मुनियोंको आहार देते समय बतलाना पडता है कि यह अमुक पदार्थ है और अमुक अमुक पदा-र्थसे वना हुआ है। यदि मुनियोंके त्यागमें वह पदार्थ नहीं है तो वे उसे ले लेते हैं अन्यथा अपना हाथ

संकोच लेते हैं। आहारके समयके सिवाय अन्य किसी भी समयमें वे औषधि आदि कोई पदार्थ नहीं लेते। मुनिराज जो एक बार आहार लेते हैं वह भी मौन धारण कर ही लेते हैं। जब वे आहार लेनेके लिये अपने स्थानसे चलते हैं तभीसे मौन धारण कर लेते हैं। तथा आहारके समयमें वे किसी प्रकारका संकेत नहीं करते। वे तो अपनी समस्त इन्द्रियोंको जीतना चाहते हैं और अपनी समस्त आकांक्षाओंका निग्रह करना चाहते है। परंतु विना शरीरको आहार दिये वह टिक नहीं सकता और विना शरीरके रत्नत्रयकी पूर्णता हो नहीं सकती। इसलिये जिस प्रकार गाडीको चलानेके लिये उसमें थोडासा तेल देना पडता है उसी प्रकार वे मुनिराज इस शरीरको दिनमें एक ही बार थोडासा आहार देते हैं। अधिक आहार करनेसे निद्रा आती है, आलस आता है तथा निद्रा आलस आनेसे ध्यान स्वाध्यायमें विघ्न पडता है। इसलिये वे मुनिराज एकबारमें भी अधिक आहार नहीं लेते हैं। आधा पेट आहार लेते हैं, चौथाई पेट पानीसे भरते हैं और चौथाई पेट खाली रखते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज शरीरको चलाने योग्य आहार लेते हैं।

गृहस्थोंके लिये दिनमें दो वार आहार लेनेका विधान है। दो वार ही आहार लेनेसे गृहस्थोंके शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहता है। दो वारसे अधिक आहार लेना और दिन

रात खातेपीते रहना मनुष्यताके बाहर है। चील कौआ चिड़ियां आदि जानवर भी रातमें नहीं खाते पीते, फिर मनुष्योंको तो रातमें कभी भी नहीं खाना चाहिये। अत-एव साधुओंको दिनमें एक ही बार आहार लेना चाहिये, उसी समय पानी पीलेना चाहिये। आहार पानीके अनंतर उस दिनके किये अन्नजलका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार संक्षेपसे एकभुक्ति गुणका निरूपण किया।

आगे इन मूलगुणोंका उपसंहार लिखते हैं।

> ये चाष्टविंशतिगुणा विमला मुनेः स्युः,
> स्वर्मोक्षदा भवहराः कथिता मया ते।
> अध्यात्मपुष्टमतिनात्मरतेन नित्यं,
> श्रुत्वेति तान् मुनिगणाः परिपालयन्तु ॥२८॥

अर्थ—ये मुनियोंके अट्ठाईस गुण अत्यंत निर्मल हैं स्वर्गमोक्ष देनेवाले हैं और जन्ममरण रूप संसारको नाश करने वाले हैं। ऐसे इन अट्ठाईस मूल गुणोंका स्वरूप अध्यात्मशास्त्रोंके पठन पाठनसे शुद्ध और निश्चल बुद्धि को धारण करनेवाले तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर-जीने निरूपण किया है। इन समस्त मूलगुणोंका स्वरूप

सुनकर तथा मननकर समस्त मुनियोंको इन अट्ठाईसों मूलगुणोंको पालन करते रहना चाहिए।

भावार्थ--इन अट्ठाईस मूलगुणोंको पालन किये बिना कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ये अट्ठाईसों मूल गुण मोक्षकी प्राप्ति के ही उपाय हैं। कदाचित् किसी मुनि के पूर्वोपार्जित कर्मोंकी तीव्रताके कारण इन मूलगुणोंकी पूर्णतामें कुछ कमी रह जाती है और वे मुनि अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष नहीं जा पाते तो फिर उनको स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य होती है। इसीलिए इन मूलगुणोंको जन्ममरण रूप संसारका नाश करनेवाला बतलाया है।

मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। इन्हींको रत्नत्रय कहते हैं। विना रत्नत्रयके इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे एक भी मूलगुण नहीं हो सकता इसलिए आचार्योंने इस रत्नत्रयको इन अट्ठाईस मूल गुणोंमें ही अंतर्भाव किया है। प्रकारान्तरसे गुप्ति तपश्चरण आदि भी सब इन्हीं मूलगुणोंमें अंतर्भाव होते हैं। ये मोक्ष की प्राप्तिमें मूलभूत हैं। इसलिए ही इनको मूलगुण कहते हैं। इस प्रकार मूलगुणोंका स्वरूप निरूपण किया।

अब आगे संक्षेपसे उत्तरगुणोंके नाम कहते हैं।

भक्त्या मयोत्तरगुणाः सुखदा मुनीनां
वर्ण्यन्त एव हि निजान्यहितार्थबुद्ध्या।

पाल्याः सदा मुनिगणैः समशान्तवृत्त्या ।
श्रीदा यतः शिवगतिः सफलं नृजन्म ॥३९॥

अर्थ—अब आगे मैं भक्तिपूर्वक तथा अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए और अन्य जीवोंका कल्याण करने के लिए मुनियोंके सुख देनेवाले उत्तरगुणोंका निरूपण करता हूं। वे सब उत्तर गुण मुनियोंको अपनी समता और शांतिरूप वृत्ति धारण कर सदाकाल पालन करना चाहिये। इनके पालन करनेसे अनंतचतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मीको देनेवाली मोक्षगति प्राप्त होती है और मोक्षगति प्राप्त होनेसे यह मनुष्यजन्म सफल हो जाता है।

भावार्थ—मूलगुणोंके साथ साथ उत्तरगुणोंके पालन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। इसीलिए हम स्वयं मोक्षप्राप्त करनेके लिए तथा अन्य भव्य जीवोंको मोक्षकी प्राप्तिकी कामना करनेके लिए इन उत्तरगुणोंका स्वरूप निरूपण करते हैं। मैं भी इनके पालन करनेका प्रयत्न करता हूं और अन्य मुनियोंको भी समतापूर्वक और शांत परिणामोंको धारण कर इनका पालन करना चाहिये।

आगे बाईस परिषहोंको कहते हैं।

क्षुत्पिपासोष्णशीताद्या सुखशान्त्यादिनाशकाः।
शान्त्यैव परिषोढव्या द्वाविंशतिपरीषहाः ॥४०॥

क्षमा कृपादयाशौर्याः स्वात्मनि धीरतादयः ।
स्वानन्ददा यतस्ते स्युःमेरुवन्निश्चलाः सदा ॥४१॥

अर्थ— क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध यांचा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन ये बाईस परीषह कहलाती हैं। यद्यपि ये परीषह सुख और शांतिको नाश करनेवाली हैं तथापि मुनियोंको शांतिपूर्वक सहन करनी चाहिये। इन परीषहोंके सहन करनेसे क्षमा, कृपा, दया, शक्ति और धीरता आदि आत्मजन्य आनंदको देनेवाले उत्तम गुण अपने आत्मामें प्रगट होते हैं और वे गुण मेरु पर्वतके समान सदा काल निश्चल बने रहते हैं। मुनि अनेक उपवास करते हैं वा उनके आहारमें अनेक विघ्न आजाते हैं। ऐसी अवस्थामें भूख प्यास दोनोंकी वेदना दुःख देती है। उन दोनों वेदनाओंको शांत परिणामोंसे सहन करना, आत्मजन्य आनंद और संतोषसे भूखप्यासकी वेदनाको दूर करना क्षुधा और पिपासा परीषह हैं। २। मुनिलोग गर्मीके दिनोंमें पर्वतपर ध्यान धारण करते हैं उस समय गर्मीकी वेदना को सहन करना उष्णपरीषह जय है। ३। शीत ऋतुमें अत्यंत ठंडी वायु चलती है, उस समयमें भी शीतवेदनाको सहन करना शीतपरीषह जय है। ४।

मुनिराज नग्न रहते हैं और ध्यान धारण करनेके लिए निश्चल होकर खडे होते हैं वा बैठते हैं उस समय डास, मच्छर, मक्खी, बर्र, ततैया, चींटी आदि अनेक जीव जन्तु काटते हैं, तथापि वे धीर वीर मुनिराज उस वेदना को सहन करते हुए अपने ध्यानसे चलायमान नहीं होते। अतएव वे मुनिराज दंशमशक परीषहको जीतने वाले कहे जाते हैं ५। मुनिराज समस्त परिग्रहका त्याग कर नग्न रहते हैं और उस समयमें वे मुनिराज निर्विकार अवस्था धारण कर पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालन करते हैं। इसीलिए वे नाग्न्य परीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। ६। मुनिराज सदाकाल अपने संयममें ही अनुराग रखते हैं। इसीलिए अनेक देशोंमें विहार करनेके कारण तथा उन देशोंकी भाषा न समझनेके कारण वा अन्य अनेक कारणोंसे अप्रिय अनिष्ट पदार्थोंका संयोग मिलता है, तथापि वे मुनिराज अपने संयम के अनुरागमें कमी नहीं करते। ऐसे मुनिराज अरति—परीषह को जीतनेवाले गिने जाते हैं। ७। मुनिराज ध्यानादिकके लिए एकांत में विराजमान होते हैं कभी कभी वहांपर अनेक स्त्रियां आकर अपने हाव भाव दिखलाती हैं और उनको ध्यानसे चला-यमान करना चाहती हैं तथापि वे मुनिराज अपने ध्यानसे कभी चलायमान नहीं होते, उन स्त्रियोंकी ओर कभी नहीं देखते, ऐसे वे मुनिराज स्त्रीपरिषहको

जीतनेवाले कहे जाते हैं ।८। गुरुकी आज्ञासे वा अन्य किसी कारणसे जब मुनि विहार करते हैं तथा भयानक वनोंमें होकर भी जाते हैं तथापि वे निर्भय होकर जाते हैं किसी की साथ नहीं चाहते तथा मार्गमें कंकड, पत्थर, कांटे आदिकी अनेक प्रकारकी बाधाओंको सहन करते हैं । इसको चर्यापरीषहजय कहते हैं । ९ । वे मुनिराज ध्याना-दिकके लिए पद्मासन आदि कठिन आसन लगाकर बैठते हैं तथा अनेक प्रकारके उपद्रव उपसर्ग होने पर भी अपने आसनसे चलायमान नहीं होते । इसको निषद्या परीषह जय कहते हैं । १० । वे मुनिराज गुफा आदिमें एक करवट से बहुत थोडा शयन करते हैं । उस समयमें भी यदि अनेक उपसर्ग आजाते हैं तो भी वे मुनिराज उनसे भय-भीत नहीं होते, न वहांसे अन्यत्र जानेकी इच्छा करते हैं तथा कंकरीली, पथरीली भूमिमें ही शयन करते हैं उसको शय्यापरीषहजय कहते हैं । ११ । मुनियोंको देखकर अनेक अज्ञानी पुरुष उनके लिए कठिन वचन कहते हैं हृदयको विदीर्ण करनेवाले और कानोंको फाड देनेवाले कठोर वचन कहते हैं परंतु वे मुनिराज अनेक प्रकारके शाप देनेकी शक्ति रखते हुए भी शांत चित्त होकर उनको सुनते रहते हैं, अपने आत्मतत्वके चिंतवनसे कभी चलाय-मान नहीं होते, इसको आक्रोशपरीषहजय कहते हैं ।१२। अनेक दुष्ट लोग आकर मुनियोंको मारते हैं उनके शरीर

को छिन्न भिन्न कर देते हैं, तथापि वे मुनिराज अपने कर्मोंके उदयका ही चिंतवन करते हैं " और यह मोहके उदयसे मेरे शरीरको नष्ट करता है मेरे संयमको वा रत्नत्रय गुणको नष्ट नहीं करता अतएव यह मेरा मित्र है " इस प्रकार चिंतवन करते हुए वध परीषहको सहन करते हैं। १३। मुनिराजको चाहे जितने दिनसे आहार न मिला हो, उन्होंने चाहे जितने उपवास किये हों वा वे रोगी हों तथापि प्राणनाश होनेपर भी वे कभी किसीसे किसी प्रकारकी याचना नहीं करते हैं, न कभी अपना मुख मलिन करते हैं न दीन वचन कहते हैं और न किसी अन्य प्रकारसे दीनताका वा याचनाका संकेत करते हैं। इस प्रकार वे यांचा परीषहको जीतते हैं। १४। यदि मुनियों को कितने ही दिनोंसे आहारादिककी प्राप्ति न हुई हो तो भी वे परमसंतोष धारण करते हैं। यदि एक गांवमें आहार न मिला हो तो कभी भी आहारके लिए दूसरे गांव जानेकी इच्छा नहीं करते। इस प्रकार अलाभमें भी लाभके समान संतोष धारण करना अलाभ परीषहका जीतना है। १५। कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकारके रोग हो जानेपर भी वे उसको प्रतीकार की इच्छा कभी नहीं करते। यद्यपि कितने ही मुनियोंको अनेक ऋद्धियां प्राप्त होती हैं। उनके शरीरको स्पर्श कर आनेवाली वायुसे सब तरहके रोग दूर हो जाते हों तथापि वे अपने रोगको

शमन करनेकी कभी इच्छा नहीं करते। इस प्रकार वे रोगपरीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। १६। वे मुनि कंकरीली पथरीली भूमिपर विराजमान होते हैं वा शयन करते हैं, ऐसी अवस्थामें उनके पत्थर कंकड भी चुभते हैं। वायुसे उडकर सूखे तृण आंखमें गिर पडते हैं वा चलते समय कांटे कंकड पैरोंमें लग जाते हैं तो भी वे अपने हाथसे उन कांटे कंकडोंको कभी नहीं निकालते उसकी परीषहको सहन करते रहते हैं। इसको तृणस्पर्श परीषह जय कहते हैं।१७। अहिंसा महाव्रत धारण करनेके कारण वे मुनिराज आजन्म स्नानके त्यागी होते हैं। इसलिये उनके शरीरपर पसीना और धूलि आदिसे वहुतसा मैल जम जाता है। कभी कभी शरीरमें खुजली छाजन आदि रोगोंके कारण भी शरीरपर मल जम जाता है तथापि वे मुनिराज उसको दूर करनेकी इच्छा कभी नहीं करते, यदि किसी दूसरेके शरीरपर भी मल हो तो वे उसको दूर करानेकी कभी इच्छा नहीं करते। वे कर्ममलको धोनेकी इच्छा करते रहते हैं। इस प्रकार जो मलपरीषहको सहन करना है उसको मल परीषहविजय कहते हैं। १८। जो मुनि अनेकवार परवादियोंको जीत चुके हैं, जो घोरतपस्वी हैं परम ब्रह्मचारी हैं और श्रेष्ठ हितोपदेशी हैं, तथापि यदि उनकी कोई भक्ति नहीं करता है वा उनको प्रणाम नहीं करता है वा उनको देखकर खडा नहीं होता है अथवा

किसी प्रकार का भी आदर सत्कार नहीं करता है तो भी वे मुनिराज समता धारण करते हैं, मान अपमान दोनों में समान परिणाम रखते हैं। ऐसे वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार परीषह को विजय करने वाले कहलाते हैं ।१९। जो मुनि अनेक शास्त्रोंके जानकार हैं, न्याय व्याकरण आदि समस्त शास्त्रों के पारंगत हैं और समस्त परवादि-योंको जीतनेवाले हैं तथापि वे कभी भी अपने हृदय में अपने ज्ञानका अभिमान नहीं करते और इस प्रकार वे प्रज्ञापरीषह को विजय करनेवाले कहलाते हैं । २०। जो मुनि चिरकालसे घोर तपश्चरण करते चले आ रहे हैं तथा विद्याध्ययन करने में लगे रहते हैं, उसके लिए तिरस्कार भी सहते हैं तथापि वे अपने मन में यह चिंतवन कभी नहीं करते कि " मैं इतने दिनका तपस्वी हूं, इतने दिनसे विद्याभ्यास कर रहा हूं, तथापि मुझे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती" उस समयमें भी वे अपने कर्मोदयकी तीव्रताका चिंतवन करते हैं। वे मुनिराज अज्ञानपरीषहको जीतनेवाले कहे जाते हैं। २१। जो मुनि परमविरक्त हैं, उत्तम संयमी हैं, परम तपस्वी हैं और समस्त शास्त्रोंमें निपुण हैं तथापि यदि उनको अवधिज्ञान आदि कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं होती है तो वे अपने मनमें कभी संताप नहीं करते। वे अपने मनमें यह कभी चिंतवन नहीं करते कि " मैं इतना तपस्वी हूं तथापि मुझे कोई ऋद्धि प्राप्त न हुई। शास्त्रोंमें जो

तपश्चरणसे ऋद्धियोंके प्राप्त होनेके वचन मिलते हैं वे सब मिथ्या हैं ” इस प्रकारके मिथ्याविचार वे कभी नहीं करते। वे तो आगमके परम श्रद्धालु होते हैं। ऋद्धियोंकी प्राप्ति न होनेमें वे अपने कर्मोंके उदयकी तीव्रताका ही कारण समझते हैं। इस प्रकार चिंतवन करनेवाले मुनि अदर्शन परीषहको सहन करनेवाले कहे जाते हैं। २२। इस प्रकार वे मुनिराज इन बाईस परीषहोंको जीतते हैं। इन बाईस परीषहोंमें, शीत उष्ण इन दोनों परिषहोंमेंसे एक समयमें एक ही होती है तथा चर्या, शय्या, निषद्या इन तीन परीषहोंमेंसे एक समयमें एक ही परीषह होती है। तथा शेष समस्त परीषह एक ही समयमें एक मुनिपर आ सकती हैं। अतएव वे मुनिराज एक समय में एक साथ उन्नीस परिषह सहन करते हैं। इन परिषहोंके सहन करनेसे अनेक कर्मोंकी निर्जरा होती है और फिर वे मुनि अपने मोक्षमार्गसे कभी चलायमान नहीं होते। इसीलिए उनके क्षमा कृपा दया धीरता शक्ति आदि अनेक गुण प्रगट होते हैं और वे गुण मोक्ष प्राप्त होनेतक विद्यमान रहते हैं।

आगे अन्य गुणोंका स्वरूप भी कहते हैं।

दशधर्माः सदा ग्राह्याः अनुप्रेक्षाश्च द्वादश।
तपो द्वादशधा पाल्यं चारित्रं गुप्तयस्तथा ॥४२॥

अर्थ—इसी प्रकार मुनियोंको दश धर्मोंका पालन करना चाहिए। बारह अनुप्रेक्षाओंका चितवन करना चाहिए, बारह प्रकार का तपश्चरण पालन करना चाहिए, पांचों प्रकारका चारित्र पालन करना चाहिए और तीनों गुप्तियोंका पालन करना चाहिए।

भावार्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव. उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। क्रोधके सर्वथा त्याग करनेको क्षमा कहते हैं तथा जो क्षमा सम्यग्दर्शनपूर्वक होती है उसको उत्तमक्षमा कहते हैं। मान वा अभिमानके सर्वथा त्याग करनेको उत्तम मार्दव कहते हैं। मायाचारीके सर्वथा त्याग करने को उत्तम आर्जव कहते हैं। लोभके सर्वथा त्याग करने को उत्तम शौच कहते हैं। किसी को जीवित रहने का लोभ होता है, किसी को अपनी आरोग्यताका लोभ होता है। किसी को अपनी इंद्रियों का लोभ होता है। और किसीको भोगोपभोगोंके पदार्थोंका लोभ होता है। इन सब प्रकारके लोभोंका त्याग कर देना शौच है। सज्जन पुरुषोंके लिए सत्य वचन कहना उत्तम सत्य है। छहों कायके जीवोंकी रक्षा करना और समस्त इंद्रियोंको अपने वशमें रखना उत्तम संयम है। समस्त इच्छाओंको रोक देना तप है। समस्त परिग्रहका त्याग कर देना

त्याग है । ‘ यह मेरा है ’ इस प्रकारके संकल्पका सर्वथा त्याग कर देना आकिंचन्य है । स्त्रीमात्रका सर्वथा त्याग कर देना पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिए गुरुकुलमें रहना वा अपने आत्मामें लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है । इस प्रकार ये दशधर्म हैं । यदि ये धर्म सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं तो उत्तमधर्म कहलाते हैं यदि ये सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं होते तो फिर इनको उत्तम धर्म कभी नहीं कह सकते । मुनिराज इन दशों उत्तमधर्मोंको पूर्ण रीतिसे पालन करते हैं ।

इसी प्रकार वे मुनिराज बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन भी सदाकाल करते रहते हैं । अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ और धर्मका चिंतवन करना बारह अनुप्रेक्षा कहलाती हैं । ये अनुप्रेक्षाएं वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए माताके समान हैं । यदि प्रतिदिन इनका चिंतवन किया जाय तो अपना वैराग्य निश्चल बना रहता है । इसीलिये मुनिराज सदा काल इनका चिंतवन करते हैं ।

इस संसारमें जितने पदार्थ हैं धनयौवन सम्पत्ति पुत्र मित्र स्त्री आदि जो कुछ दिखाई पडता है वह सब अनित्य है, अवश्य नाश होनेवाला है । इस प्रकार बारबार चिंत- वन करना अनित्य अनुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिंतवन कर- नेसे सांसारिक पदार्थोंमें मोह नहीं होता वा इष्टवियोग

होनेपर भी खेद नहीं होता। अथवा समस्त पदार्थोंके ममत्वका त्याग हो जाता है और वैराग्य परिणामोंकी वृद्धि हो जाती है।

जिस प्रकार सिंहके पंजेमें आये हुए हिरणकी रक्षा कोई नहीं कर सकता उसी प्रकार इस जीवको भी मरनेसे कोई नहीं बचा सकता। अनेक प्रकारसे लालन पालन किया हुआ यह शरीर केवल भोजन के लिये सहायक होता है। किसी आपत्तिके आनेपर सहायक नहीं होता और न परलोकमें साथ जाता है, मित्र पुत्र भी मरण समयमें नहीं बचा सकते, यहांतक कि इन्द्रादिक देव भी नहीं बचा सकते। यदि इस जीवको दुर्गतियोंसे बचानेवाला है तो एक धर्म ही है इस प्रकार बारबार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

जन्ममरणकी परंपराको संसार कहते हैं। यह जीव अपने कर्मके उदयसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। अथवा पंच परावर्तन रूप संसारमें परिभ्रमण किया करता है। कभी नरकमें पहुंचता है, कभी तिर्यंच होता है, कभी देव होता है और कभी मनुष्य होता है। आज जो अपनी स्त्रीका जीव है वह मरकर अपनी बहिन की पर्यायमें आ जाता है। आज जो माता वा बहिनका जीव है वही जीव मरकर अपनी स्त्रीकी पर्यायमें आ जाता है। जो आज पिता है वह मरकर पुत्रकी पर्यायमें आ जाता है। कहांतक कहा

जाय, यह जीव स्वयं मरकर अपना पुत्र बन जाता है। इस प्रकार वार वार चिंतवन करनेसे संसारसे संवेग उत्पन्न होता है अर्थात् संसार से भय उत्पन्न होकर वैराग्य की वृद्धि होती है। इस को संसारअनुपेक्षा कहते हैं।

चौथी एकत्वभावना है। यह जीव इस संसार में अकेला ही परिभ्रमण करता है। परिभ्रमणमें अन्य कोई भी इसका साथ नहीं देता। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही रोगी होता है और अकेला ही अनेक प्रकारके सुख दुःख सहन करता है। भाई मित्र पुत्र आदि सब अधिकसे अधिक श्मशान तक साथ जाते हैं तथा स्त्री भगिनी आदि तो घरके दरवाजेतक ही साथ देती हैं। अत एव धर्मके सिवाय मेरा अन्य कोई सहायक नहीं है। इस प्रकार चिंतवन करना एकत्व भावना है। इसके चिंतवन करनेसे स्वजनों से मोह छूट जाता है और परजनोंसे द्वेष छूट जाता है। तथा राग द्वेषका त्याग कर फिर वह मोक्ष के मार्ग में ही लग जाता है।

पांचवी अन्यत्वभावना है। संसारके समस्त पदार्थोंसे वा अपने शरीरसे भी अपने आत्माको भिन्न चिंतवन करना अन्यत्व भावना है। ये सांसारिक पदार्थ सब जड हैं। मेरा शरीर भी जड है परंतु मेरा आत्मा चैतन्य स्वरूप है, ये शरीर आदिक सब पदार्थ अनित्य हैं परंतु

मेरा आत्मा नित्य है। मैंने ऐसे अनंत शरीर धारण किये हैं। वही मैं हूं। अतएव मैं इन सबसे भिन्न हूं। इस प्रकार चिंतवन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे शरीरका ममत्व छूट जाता है और यह आत्मा मोक्षमार्गमें लग जाता है।

छठी अशुचि भावना है। वास्तवमें देखा जाय तो यह शरीर अत्यंत अपवित्र है। हड्डी, मांस, रुधिर मज्जा वसा आदि अत्यंत अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है, माताके रज और पिताके वीर्यसे बना हुआ है। सदा काल मलमूत्रसे भरा रहता है। चंदन केशर आदि उत्तमोत्तम पदार्थ भी इसपर लगा लेनेसे अपवित्र हो जाते हैं। जीवके निकल जानेपर इसके स्पर्श करने मात्रसे भी स्नान करना पडता है। इस प्रकारके इस अपवित्र शरीरसे केवल रत्नत्रय गुणको प्रगट कर लेना वा तपश्चरणके द्वारा मोक्षकी सिद्धि कर लेना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है इस प्रकार चिंतवन करना अशुचिभावना है। इसके चिंतवन करनेसे शरीरका ममत्व छूट जाता है, तथा शरीरका ममत्व छूट जानेसे यह जीव मोक्षके लिए प्रयत्न करता है।

सातवीं आस्रवानुप्रेक्षा है। आस्रवके गुण दोष चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। यह आस्रव मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय आदिसे होता है। मिथ्यात्व अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रको माननेसे तीव्र कर्मोंका

आस्रव होता है। व्रतोंके पालन न करनेसे भी इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें दुःख होता है। देखो स्पर्शनेन्द्रिय के वश होकर हाथी बंधनमें पडता है, रसना इन्द्रियके कारण मछली अपना कंठ छिदाती है, घ्राण इन्द्रियके वश होकर भ्रमर कमलमें ही मर जाता है, चक्षुइन्द्रिय वश होकर अनंत पतंगे दीपकमें आकर मर जाते हैं, कर्ण इन्द्रियके कारण हिरण अपने प्राण खोते हैं। जिस प्रकार इन इन्द्रियोंके कारण इस लोकमें दुःख होता है उसी प्रकार परलोकके लिये भी अत्यंत अशुभ आस्रव होता है। कषाय और प्रमादके कारण भी नरकादिकके दुःख देनेवाला आस्रव होता है। जिस प्रकार नावमें छिद्र हो जानेसे वह नाव डूब जाती है उसी प्रकार आस्रवसे यह प्राणी संसारसमुद्रमें डूब जाता है। इस प्रकार आस्रवका स्वरूप चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे यह प्राणी अपने धर्मसे चलायमान नहीं होता।

आठवीं संवरानुप्रेक्षा है। आस्रवका रोकना संवर है। छिद्र हो जाने के कारण जिस नाव में पानी भर रहा है यदि उसका वह छिद्र बंद कर दिया जाय तो वह नाव डूबनेसे बच सकती है। उसी प्रकार आस्रवके कारणोंको रोक देनेसे यह प्राणी संसारके परिभ्रमणसे बचकर अपने कल्याण करनेके मार्गमें लग जाता है। इस प्रकार चिंत-

वन करना संवरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे यह प्राणी मोक्षमार्गमें लग जाता है।

नौवीं निर्जरानुप्रेक्षा है। कर्मोंके एकदेशक्षय होनेको निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकार है एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाकनिर्जरा। जो कर्म अपना फल देकर निर्जरित हो जाते हैं उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। तथा तपश्चरणादिकके द्वारा जो कर्मोंकी निर्जरा होती है उसको अविपाकनिर्जरा कहते हैं। सविपाकनिर्जरासे इस जीवका कोई कल्याण नहीं होता, अविपाक निर्जरासे कर्मोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे यह प्राणी कर्मोंकी निर्जराके लिये तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है।

दशवीं लोकानुप्रेक्षा है। यह सर्वव्यापी आकाश अनंत प्रदेशी है। इसके मध्यभागमें यह लोकाकाश है जो घनवात, अंबुवात और तनुवातके आश्रित है। जिस प्रकार किसी बहुत मोटी वायुके मध्यभागमें किसी पदार्थ के आजानेसे वह पदार्थ वहीं स्थिर रहता है उसी प्रकार बहुत मोटी वायुके आधारपर यह लोक स्थिर है। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल आदि समस्त पदार्थ भरे हुए हैं। इन सबके यथार्थ स्वरूपका चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। लोकानुप्रेक्षाके चिंतवन करनेसे तत्त्वज्ञानकी वृद्धि

होती है तथा यह आत्मा अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर अपने उद्धारका प्रयत्न करता है।

ग्यारहवीं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। बोधि शब्दका अर्थ रत्नत्रय है। इस संसारमें रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। यह जीव अनादिकालसे निगोदमें पडा रहता है। प्रथम तो उसीमेंसे निकलना कठिन है, यदि किसी प्रकार निकल भी आया तो विकलेन्द्रियमें परिभ्रमण करता रहता है। तदनंतर वहांसे बडी कठिनतासे निकलता है और पंचेन्द्रियमें परिभ्रमण करता रहता है, वहांपर अनेक प्रकार की तिर्यंचयोनिमें परिभ्रमण करता रहता है; नरकोंमें परिभ्रमण करता रहता है वा देवयोनिमें, मनुष्ययोनिमें परिभ्रमण करता रहता है। मनुष्ययोनिमें भी उत्तम कुलमें जन्म लेना, नीरोग शरीरका प्राप्त होना और उसमें भी धर्मकी प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। धर्मकी प्राप्ति होनेपर भी समाधिमरण की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इस प्रकार चिंतवन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करनेसे यह प्राणी धर्मको प्राप्त कर प्रमाद नहीं करता। अपने आत्म-कल्याणमें लग जाता है।

बारहवीं धर्मानुप्रेक्षा है। भगवान् जिनेन्द्रदेवने अहिंसा ही धर्मका स्वरूप बतलाया है। उस अहिंसामय धर्मके स्वरूपका चिंतवन करना धर्मानुप्रेक्षा है। अथवा गुणस्थान वा मार्गणास्थानोंमें अपने आत्माके स्वरूप

का चिंतवन करना धर्मानुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षाके चिंत-वन करनेसे धर्ममें अनुराग होता है, अपने आत्माके स्वरू-पमें अनुराग होता है और फिर वह जीव उसीके प्रयत्नमें लग जाता है। इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओंका निरूपण किया। इनका चिंतवन करनेसे संसारसे विरक्त होता है दश धर्मोंको धारण करता है और बाईस परी-षहोंके सहन करनेमें तत्पर रहता है। इस प्रकार यह प्राणी इन अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे महासंवर करता है अर्थात् आते हुए समस्त कर्मोंको रोकता है और इस प्रकार अनुक्रमसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेता है।

आगे बारह प्रकारके तपश्चरणको कहते हैं। समस्त इच्छाओंका रोकना तपश्चरण है। वह अंतरंग और बहि-रंगके भेदसे दो प्रकार है। जो बाहरसे भी मालूम हो जाय उसको बहिरंग तप कहते हैं। उसके छह भेद हैं। अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। चारों प्रकारके आहारका त्याग करना अन-शन है, वह अवधृत और अनवधृतके भेदसे दो प्रकार है। एक दिनका, दो दिनका वा चार छह दिनका उपवास करना अवधृत अनशन है। और जीवनपर्यन्त चारों प्रकार के आहारका त्याग कर देना अनवधृत अनशन है। अन-शनके करनेसे संयम बढता है, रागद्वेषका नाश होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। नियमित भोजनसे थोडा

आहार लेना, एक दो गास वा चौथाई पेट आहार लेना अवमोदर्य है। इस तपश्चरणसे प्रशम, सन्तोष, स्वाध्याय, संयम आदि गुणोंकी वृद्धि होती है। आहारको जाते समय "मैं पहले घरमें ही आहार मिलेगा तो लूंगा अन्यथा नहीं" 'सात घरोंके भीतर ही आहार मिल जायगा तो लूंगा नहीं तो नहीं' अथवा आज प्रतिग्रहके समय प्रतिग्रह करनेवालेके हाथमें कोई फल होगा वा आम होगा तो आहार लूंगा अन्यथा नहीं' इस प्रकार अटपटी प्रतिज्ञा करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। इस तपश्चरणसे आशाका नाश होता है। घी, दूध, गुड, तेल आदि रसोंका त्याग करना रसपरित्याग नामका तप है। इसके पालन करनेसे इन्द्रियोंका दमन होता है और संयमके विघ्न सब दूर हो जाते हैं। किसी एकांत स्थानमें विराजमान होना वा शयन करना विविक्तशय्यासन है। इस तपश्चरणसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन होता है ध्यान वा स्वाध्यायकी सिद्धि होती है। शीतऋतुमें नदीके किनारे ध्यान धारण करना मौनधारण करना, वा अन्य शास्त्रोक्तमार्ग से कायक्लेश सहन करना कायक्लेश नामका तप है। यह तपश्चरण सुखकी अनिच्छासे वा धर्ममें दृढता धारण करनेके लिए वा प्रभावनाके लिए किया जाता है। इन छहों तपश्चरणोंसे कर्मोंकी प्रचुर निर्जरा होती है।

आगे अंतरंग तपश्चरणोंका स्वरूप कहते हैं। प्राय-

श्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तपश्चरण है। इनमें से प्राय-श्चित्त के नौ भेद हैं, विनयके चार भेद हैं, वैयावृत्यके दश भेद हैं, स्वाध्यायके पांच भेद हैं। व्युत्सर्गके दो भेद हैं और उत्तम ध्यान के दो भेद हैं।

अपने चारित्रको निर्मल रखना वा चारित्रमें लगे हुए दोषोंको प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध करना प्रायश्चित्त है। इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना ये नौ भेद हैं। गुरु के सामने दश दोषोंसे रहित अपना प्रमाद निवेदन करना आलोचना है। आलोचनाके दश दोष ये हैं। कम प्राय-श्चित्त की इच्छा से गुरु को कुछ उपकरण देकर अपना प्रमाद निवेदन करना पहला दोष है। मैं बहुत दुर्बल हूं उपवासादिक नहीं कर सकता मुझे थोडासा प्रायश्चित्त देना इस प्रकार कह कर अपना अप-राध कहना दूसरा दोष है। जो अपराध किसीने नहीं देखा है उसको तो छिपा लेना और प्रगट दोषको निवे-दन करना, इस प्रकार मायाचार करना तीसरा दोष है। आलस्य और प्रमादके कारण अपने अपराधोंकी ओर ध्यान न देना, केवल स्थूल दोषोंको कहना चौथा दोष है। अधिक प्रायश्चित्तके भयसे बड़े अपराधको छिपा लेना

और उसीके अनुकूल अपना प्रमाद निवेदन करना पांचवां दोष है। इस प्रकारके अपराध का क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार पूछना छठा दोष है। जहांपर अनेक यति मिलकर पाक्षिक वा चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कर रहे हों, और आलोचनाके अनेक शब्द कहे जा रहे हों उस समय पहलेके दोषोंको कहना सातवां दोष है। गुरुका दिया हुआ प्रायश्चित्त शास्त्रानुसार ठीक है वा नहीं ऐसी शंका रखकर किसी अन्य साधुसे पूछना आठवां दोष है। लज्जा वा ग्लानिसे अपने समान वा अपनेसे छोटे साधुसे प्रायश्चित्त लेना नौवां दोष है। मेरा अपराध इन साधुके अपराधके समान है इनको जो प्रायश्चित्त दिया है वही मेरे लिये ठीक है यही समझकर अपना अपराध कहना दशवां दोष है। इन दशों दोषोंसे रहित आलोचना करनी चाहिये।

कर्मके निमित्तसे किसी अपराधके होनेपर " मेरा यह पाप मिथ्या हो " इस प्रकार प्रगट कहना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय है। अपराध होनेपर एकादि दिनके लिये आहार बंद कर देना वा उनके प्रिय उपकरण लेलेना विवेक है। किसी अपराधके होनेपर कायोत्सर्ग करना कायोत्सर्ग है। अथवा किसी नियत समयतक कायोत्सर्ग करना कायोत्सर्ग है। उपवास दो उपवास आदि करना तप है। चिरदीक्षित

साधुओंके भी किसी अपराधके होनेपर दिन, पक्ष, महिना, आदिकी दीक्षा घटा देना, छेद कर देना छेद नामका प्रायश्चित है। किसी अपराधके होनेपर पक्ष महीना आदिके लिये संघसे अलग कर देना परिहार है। फिरसे दीक्षा देना उपस्थापना है। इस प्रकार प्रायश्चित्त नामक अंतरंग तपके भेद हैं।

रत्नत्रयकी विनय करना विनयनामका तप है। इसके चार भेद हैं। ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र-विनय और उपचारविनय, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करना ज्ञान विनय है। सम्यग्दर्शनको निर्मल रखना दर्शन विनय है। सम्यक्चारित्रको निर्मलरीतिसे पालन करना चारित्रविनय है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रको पालन करनेवालोंकी विनय करना उनको देख कर खडे होना हाथ जोडना आदि उपचारविनय है। उपचारविनय परोक्षमें भी की जाती है। विनयसे रत्न-त्रयकी विशुद्धि होती है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शरीरसे वा अन्य किसी प्रकारसे मुनियोंकी सेवा करना उनके उपसर्गादिक दूर करना वैयावृत्य है। आचा-र्यादिकके भेदसे मुनियोंके दश भेद हैं। उन सबकी सेवा करनेसे वैयावृत्यके दश भेद हो जाते हैं। जिनसे व्रत वा प्रायश्चित्त आदि लिया जाय उनको आचार्य कहते हैं। जिनसे पढा जाय उनको उपाध्याय कहते हैं। अनेक

उपवास वा घोर तपश्चरण करनेवालोंको तपस्वी कहते हैं। पढने योग्य साधुओंको शैक्ष्य कहते हैं। रोगी मुनियोंको ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्योंके शिष्योंकी परंपराको कुल कहते हैं। मुनि यति तपस्वी साधुओंके समुदायको संघ कहते हैं। चिरकालके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं। विद्वान् महा-वक्ता और कुलीन साधुओंको मनोज्ञ कहते हैं। इन दशों-प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना दश प्रकारका वैयावृत्य है। वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्सा अंग पलता है, वात्सल्य अंगका पालन होता है और समाधिमें सहायता पहुंचती है।

आत्मतत्वका अध्ययन करना वा वीतराग सर्वज्ञदेव के कहे हुए शास्त्रोंका अध्ययन करना स्वाध्याय है। उसके वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मो-पदेश ये पांच भेद हैं। ग्रंथ और उसके अर्थको पढाना वाचना है। आत्मोन्नतिके साधक शास्त्रोंमें संशय दूर करनेके लिये वा किसी सिद्धांतका निश्चय करनेके लिये पूछना पृच्छना है। पठित विषयको बार बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। विना किसी इच्छाके सिद्धांत ग्रंथोंका पाठ करना आम्नाय है। धर्मकथाओंका उपदेश देना धर्मोपदेश है। इस प्रकार स्वाध्यायके पांच भेद हैं। बुद्धि बढानेके लिये, प्रशस्त ज्ञानके लिये, श्रुतज्ञानकी सत्ता

बनाये रखनेके लिये, संशयको दूर करनेके लिये, परवादियोंकी शंका दूर करनेके लिये, संवेगके लिये, वैराग्यके लिये, तपश्चरणकी वृद्धिके लिये और अतिचारोंको शुद्ध करनेके लिये स्वाध्याय किया जाता है।

त्याग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो भेद हैं। बाह्य परिग्रहोंका त्याग करना बाह्योपधिव्युत्सर्ग है। तथा क्रोधादिक अंतरंग परिग्रहोंका त्याग करना अंतरंगोपधिव्युत्सर्ग है। कायका व्युत्सर्ग अंतरंग उपधि व्युत्सर्गमें आता है। किसी नियत समयतक शरीरसे ममत्वका त्याग करना नियत काय व्युत्सर्ग है और जीवनपर्यन्त कायका त्याग करना यावज्जीव कायव्युत्सर्ग है। समस्त परिग्रहका त्याग करनेके लिये, सदाकाल निर्भय रहनेके लिये और जीवित रहनेकी आशाका त्याग करनेके लिये व्युत्सर्ग किया जाता है।

अन्य सब चिंतवनोंका त्याग कर किसी एक पदार्थका चिंतवन करना ध्यान है। वह ध्यान उत्तमसंहनन धारण करनेवालोंके भी अंतर्मुहूर्त तक होता है। उसके चार भेद हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

दुःखसे जो ध्यान होता है उसको आर्तध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं। अनिष्टपदार्थोंके संयोग होनेपर

उसके वियोगके लिये बार बार चिंतवन करना पहला आर्तध्यान है। किसी इष्ट पदार्थके वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये बार २ चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान है। किसी रोगके होनेपर हाथ पैर पटकना, रोना शोक करना धैर्य धारण न करना तीसरा आर्तध्यान है और आगामी भोगोंकी स्पृहा करना चौथा आर्तध्यान है। यह ध्यान अशुभध्यान है और तिर्यंचगतिका कारण है।

जो ध्यान अत्यंत रुद्रपरिणामोंसे वा तीव्र कषायोंसे होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं उसके भी चार भेद हैं। हिंसा करनेके लिये बार बार चिंतवन करना वा हिंसामें आनंद मानना पहला रौद्रध्यान है। झूठ बोलनेके लिये बार बार चिंतवन करना वा झूठ बोलनेमें आनंद मानना दूसरा रौद्रध्यान है। चोरी करनेके लिये बार बार चिंतवन करना वा चोरीमें आनंद मानना तीसरा रौद्रध्यान है। परिग्रहके संचयके लिये बार बार चिंतवन करना वा परिग्रहमें आनंद मानना चौथा रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान भी नरकका कारण है। इस प्रकार आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों ही संसारके कारण हैं।

उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके चिंतवन करनेसे जो ध्यान होता है उसको धर्म्यध्यान कहते हैं। उसके भी चार भेद हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए मार्गको

प्रमाण मानकर सूक्ष्म पदार्थोंके स्वरूपको भी उसी रूपसे निश्चित करना आज्ञाविचय नामका पहला धर्म्यध्यान है। अथवा भगवान् जिनेंद्रदेवकी आज्ञाका प्रचार करना धर्म्य-ध्यान है। मिथ्यादृष्टि पुरुष मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हो रहे हैं, और नरकादिकके महाःदुख भोग रहे हैं। वे किस प्रकार उस संसारके मार्गको छोड सकते हैं और किस प्रकार मोक्षमार्गमें लग सकते हैं इस प्रकार बार बार चिंतवन करना दूसरा अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है। ज्ञाना-वरणादिक आठों कर्मोंका उदय कहां कहां होता है और क्या क्या फल देता है इस प्रकार बार बार चिंतवन करना तीसरा विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान है। लोकका, लोकमें भरे हुए आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंका बार बार चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है। इस प्रकार धर्म्यध्यानके चार भेद हैं। यह धर्म्यध्यान साक्षात् स्वर्गका कारण है और परं-परासे मोक्षका कारण है।

आत्माके शुद्धस्वरूपका चिंतवन करना शुक्लध्यान है। इसके भी चार भेद हैं। आत्माके शुद्ध स्वरूपको वा अन्य किसी पदार्थके शुद्ध स्वरूपको मन वचन काय तीनों योगोंसे चिंतवन करना पहला पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान है। यह श्रुतकेवलियोंके ही होता है। तथा इसके चिंतवनमें कभी पदार्थ बदल जाता

है कभी अर्थ बदल जाता है और कभी योग बदल जाता है। जो चिंतवन किसी एक योगसे होता है उसको एकत्व वितर्कवीचार कहते हैं। यह दूसरा शुक्लध्यान भी श्रुतकेवलियोंके ही होता है। तथा इसके चिंतवनमें न तो पदार्थ बदलता है न अर्थ बदलता है और न योग बदलता है। इसीलिये इसको एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं। तीसरे शुक्लध्यानका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती है। यह तेरहवें गुणस्थानमें केवली भगवान्के होता है। तथा काययोगसे ही होता है। जब केवली भगवान्की आयु अंतर्मुहूर्त रह जाती है, और शेष कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तब वे केवली भगवान् उन सब कर्मोंकी स्थितिको आयुके समान करनेके लिये समुद्धात करते हैं। उस समुद्धातमें वे पहले समयमें अपने आत्माके प्रदेशोंको समस्त लोकमें दंडाकार परिणत करते हैं, दूसरे समयमें चौडाईमें कपाटरूप परिणत करते हैं, तीसरे समयमें लोककी मुटाईमें प्रतररूप परिणत करते हैं और चौथे समयमें लोक पूर्ण हो जाते हैं। तदनंतर चार ही समयमें अनुक्रमसे संकोच करते हुए शरीरप्रमाण अपने आत्माके प्रदेशोंको कर लेते हैं। इस प्रकार ध्यानमें परिणत होनेसे वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मोंकी स्थिति आयुके समान हो जाती है। इस ध्यानको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान केवल काययोगसे होता है। आयुकर्मके

अंतके समयोंमें चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान होता है इसमें मन वचन कायके सब व्यापार नष्ट हो जाते हैं, समस्त आस्रवका निरोध हो जाता है और समस्त कर्म नष्ट होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तपश्चरणका स्वरूप निरूपण किया। इन दोनों प्रकारके तपश्चरणसे संवर और निर्जरा दोनों होती है।

आगे सम्यक्‌चारित्रका स्वरूप दिखलाते हैं। यद्यपि यह सम्यक्‌चारित्र मूलगुणोंमें ही अंतर्भूत होता है तथापि कुछ विशेषता होनेसे उत्तरगुणोंमें भी माना जाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष जो संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिये बाह्य अभ्यंतर समस्त क्रियाओंका त्याग कर देते हैं उसको सम्यक्‌चारित्र कहते हैं। उसके सामायिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे पांच भेद हैं। किसी नियत समय तक समस्त पापरूप योगोंका त्याग कर अपने आत्मामें लीन होना सामायिक है। अपने चारित्रमें किसी प्रकारका दोष लगनेपर उसके दूर करानेका उपाय करना छेदोपस्थापना है। तपश्चरण करते हुए आत्मामें एक ऐसी विशुद्धि उत्पन्न होजाना जिससे कि विहार करते हुए भी किसी जीवको बाधा न हो उसको परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। जो महामुनि तीस वर्षसे अधिक आयुवाले होते हैं, जो सात

आठ वर्ष भगवान् तीर्थंकर परमदेवके चरणोंमें रह चुकते हैं उन्हींके यह चारित्र होता है। इस चारित्रको धारण करनेवाले प्रतिदिन नियमपूर्वक दो कोस चलते हैं। जिन मुनियोंके ध्यानके बलसे कषाय अत्यंत सूक्ष्म रह जाती है और जो आत्माको शुद्ध कर दशवें गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं उनके सूक्ष्म सांपराय नामका चारित्र होता है। जिस चारित्रमें आत्माका अंत्यंत निर्मल स्वरूप प्रगट हो जाय, चारित्रमोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट होजाय उसको यथाख्यातचारित्र कहते हैं। इस प्रकार चारित्रके पांच भेद हैं। ये पांचों प्रकारका चारित्र परम संवरका कारण है।

मन वचन कायको निग्रह करना गुप्ति है, उसके तीन भेद हैं। मनको निग्रह करना मनोगुप्ति है, वचनको निग्रह करना वचनगुप्ति है और कायका निग्रह करना कायगुप्ति है। इन गुप्तियोंसे परम संवर होता है। इस प्रकार संक्षेपसे थोडेसे उत्तर गुणोंका निरूपण किया है।

आगे अठारह हजार शीलोंको पालन करनेके लिये कहते हैं—

अष्टादशसहस्राश्च शीलानां शान्तिदायिनाम्।
प्रोक्ता भेदा यथायोग्याः पाल्याः स्वर्मोक्ष-
गामिभिः॥४३॥

अर्थ—स्वर्गमोक्ष जानेवाले मुनियोंको परम शांति देनेवाले अठारह हजार भेदसे युक्त शीलोंको यथायोग्य रीतिसे पालन करने चाहिये। इनका विशेष वर्णन और अठारह हजार भेद इसी ग्रंथमें ब्रह्मचर्यमहाव्रतमें निरूपण किये हैं वहांसे देख लेना चाहिये।

आगे चौरासी लाख उत्तर गुणोंको कहते हैं—

चतुरशीतिलक्षाणां दोषाणां नाशतस्तथा।
चतुरशीतिलक्षाः स्युर्गुणाः शाश्वतिका मुनेः॥४४॥

अर्थ—चौरासी लाख दोषोंके नाश होनेसे मुनियोंके आत्माके साथ सदाकाल रहनेवाले चौरासी लाख गुण प्रगट होते हैं। उनकी संख्या इस प्रकार है।

अहिंसा महाव्रत १ सत्यमहाव्रत २ अचौर्यमहाव्रत ३ ब्रह्मचर्यमहाव्रत ४ परिग्रहत्यागमहाव्रत ५ पांचों इंद्रियोंका निरोध ६ मार्दव ७ आर्जव ८ शौच ९ सत्य १० भयका त्याग ११ रतिका त्याग १२ अरतिका त्याग १३ जुगुप्साका त्याग १४ अज्ञान का त्याग १५ पैशून्यका त्याग १६ सम्यग्दर्शन १७ प्रमादका त्याग १८ मनोगुप्ति १९ वचनगुप्ति २० कायगुप्ति २१. इस प्रकार ये इकईस

भेद होते हैं। इन इकईस व्रतोंको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचाररहित पालन करनेसे चौरासी भेद होते हैं। इन चौरासी भेदोंको दश प्रकार के प्राणियोंकी रक्षा करते हुए पालन करना चाहिए। वे दश भेद ये हैं। पृथ्वीकायिक १ जलकायिक २ अग्निकायिक ३ वायुकायिक ४ प्रत्येकवनस्पति ६ दो इंद्रिय ७ ते इंद्रिय ८ चौइंद्रिय ९ पंचेंद्रिय १० इन दश प्रकार के प्राणियोंकी हिंसाके त्यागपूर्वक चौरासी व्रतोंका पालन करनेसे आठसौ चालीस भेद हो जाते हैं। जीवोंके दश प्राण होते हैं। यथा–स्पर्शनइंद्रिय १ रसनाइंद्रिय २ घ्राणइंद्रिय ३ चक्षुइंद्रिय ४ श्रोत्रइंद्रिय ५ मन ६ वचन ७ काय ८ आयु ९ और श्वासोच्छ्वास १०। ऊपर लिखे दशों प्रकारके प्राणियोंके दश दश प्राणोंकी रक्षा करनेसे सौ भेद हो जाते हैं। ऊपर लिखे चौरासी व्रतोंमें इन सौ प्राणोंकी रक्षाका नियम करनेसे व्रतोंके चौरासी सौ भेद होजाते हैं। ऊपर लिखे चौरासी सौ व्रत

---

१ मनकी शुद्धताका नाश होना अतिक्रम है। विषयोंकी अभिलाषा करना व्यतिक्रम है। इन्द्रियोंमें आलस्य होना अतिचार है और व्रतोंका भंग होना अनाचार है। व्रतोंमें ये चारों दोष नहीं लगने चाहियें।

दश प्रकारके शीलसहित पालन करना चाहिये। वे दश शील ये हैं। स्त्रीके साथ स्नेहका त्याग १ धन संग्रह करनेका त्याग २ शरीरको सुशोभित करनेका त्याग ३ पौष्टिक आहारका त्याग ४ गीत, नृत्य, वादित्रका त्याग ५ पुष्प, अत्तर आदि सुगंधित पदार्थोंका त्याग ६ कोमल बिछोना वा आभूषण आदिका त्याग ७ बिना प्रयोजन रात्रिमें घूमनेका त्याग ८ राजाकी सेवा करनेका त्याग ९ चोर व्यभिचारी आदिकी संगतिका त्याग। ऊपर लिखे चौरासी सौ व्रतोंको इन दश दश शीलोंके साथ पालन करनेसे चौरासी हजार भेद हो जाते हैं। इन चौरासी हजार व्रतोंको आलोचन १ प्रतिक्रमण २ तदुभय ३ विवेक ४ व्युत्सर्ग ५ तप ६ छेद ७ परिहार ८ उप-स्थापना ९ दर्शन १० इन दश प्रकारके प्रायश्चित्तपूर्वक पालन करनेसे आठ लाख चालीस हजार भेद हो जाते हैं। इन प्रायश्चित्तोंका स्वरूप तपश्चरणके वर्णनमें लिख चुके हैं। इन दशों प्रकारके प्रायश्चित्तोंके प्रत्येक के दश दश दोष हैं और वे इस प्रकार हैं। आकंपितत्याग १ अनुमतित्याग २ दृष्टत्याग ३ बादरत्याग ४ सूक्ष्म त्याग ५ छन्नत्याग ६ सब्दाकुलितत्याग ७ बहुत्याग ८ अव्यक्तत्याग ९ तत्सेवित त्याग १० इनका वर्णन भी पहले तपश्चरणके प्रकरणमें कह चुके हैं। वह दशों प्रकारका प्रायश्चित्त इन दश दश दोषोंसे रहित ही पालन किया

जाता है। इस प्रकार पालन करनेसे उत्तर गुणोंके चौरासी लाख भेद हो जाते हैं।

जैनसिद्धांतमें वर्णित व्रताचार सर्व परिणामोंकी विशुद्धिके लिए है, यह आत्मा परिणाममें मलिनताके होनेसे ही रागद्वेषादिक विकारोंसे युक्त होकर परपदार्थोंमें अनुरक्त होता है, जैसे जैसे परपदार्थोंमें अधिक आसक्त होता है वैसे ही वह अपने आत्मीयगुणोंसे भी दूर होता जाता है। इन शील व उत्तरगुणोंके पालन करनेसे आत्मा मोहनीयभावोंसे विरक्त होकर अपने आत्मतत्त्वमें अनुरक्त होता है, व कर्ममल कलंकसे मुक्त होता है। इसलिए इन चौरासी लाख गुणोंको प्राप्त करनेके लिए बहुत लगनपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

उन चौरासी लाख गुणोंका तथा उनमेंसे प्रत्येक संख्याका गुण निकालनेका तथा प्रत्येक गुणकी संख्या निकालनेका यंत्र इस प्रकार है।

चौरासी लाख उत्तरगुणोंका नष्टोद्दिष्टयंत्र.

अंक	गुण
१	अहिंसामहाव्रत
२	सत्यमहाव्रत
३	अचौर्यमहाव्रत
४	ब्रह्मचर्यमहाव्रत
५	परिग्रहत्याग महा.
६	पंचेंद्रियनिरोध.
७	मार्दव.
८	आर्जव.
९	शौच.
१०	मृष.
११	भयत्याग.
१२	रतित्याग.
१३	अरतित्याग
१४	जुगुप्सात्याग
१५	अज्ञानत्याग.
१६	पैशून्यत्याग.
१७	सम्यग्दर्शन.
१८	अप्रमाद.
१९	मनोगुप्ति.
२०	वचनगुप्ति.
२१	कायगुप्ति.

अंक	गुण
०	अतिक्रमत्याग.
२१	व्यतिक्रमत्याग.
४२	अतिचारत्याग.
६३	अनाचारत्याग.

अंक	गुण
०	पृथ्वीकायिक त्याग.
८४	जलकायिक त्याग.
१६८	अग्निकायिक त्याग.
२५२	वायुकायिक त्याग.
३३६	प्रत्येकवनस्पति त्याग.
४२०	साधारण-वनस्पती त्याग
५०४	द्वेइन्द्रियवध त्याग.
५८८	तेइन्द्रियवध त्याग.
६७२	चौइन्द्रियवध त्याग.
७५६	पंचेंद्रियवध त्याग.

आकंपित त्याग ०	आलोचन ०	स्त्रीस्नेहत्याग ०	०	स्पर्शनत्याग
अनुमति त्याग ८४००००	प्रतिक्रमण ८४०००	अर्थार्जनत्याग ८४००	८४०	रसनात्याग
दृष्टत्याग १६८००००	तदुभय १६८०००	स्वांगमंडनत्याग १६८००	१६८०	घ्राणत्याग
बादरत्याग २५२००००	विवेक २५२०००	वृष्यभोजनत्याग २५२००	२५२०	चक्षुत्याग.
सूक्ष्मत्याग ३३६००००	व्युत्सर्ग ३३६०००	गीतादित्याग ३३६००	३३६०	श्रोत्रत्याग
छलत्याग ४२०००००	तप ४२००००	शृंगारत्याग ४२०००	४२००	कायत्याग
शब्दाकुलितत्याग ५०४००००	छेद ५०४०००	शयनासनत्याग ५०४००	५०४०	वचनत्याग
बहुत्याग ५८८००००	परिहार ५८८०००	रात्रिसंचरण-त्याग ५८८००	५८८०	मनत्याग.
अव्यक्तत्याग ६७२००००	उपस्थापना ६७२०००	राजसेवात्याग ६७२००	६७२०	आयुत्याग.
तत्सेवितत्याग ७५६००००	दर्शन ७५६०००	कुत्सितसंगति त्याग ७५६००	७५६०	श्वासोच्छ्वास त्याग

आगे महाव्रतोंकी भावनाएं दिखलाते हैं।

महाव्रतानां स्थैर्यार्थं भावनाः पंचविंशतिः।
भाव्या भक्त्या सदा भव्यैर्मोहरज्जुप्रभेदकैः॥४५॥

अर्थ—महाव्रतोंको स्थिर रखनेके लिये पच्चीस भावनाएं हैं। वे सब भावनाएं मोहरूपी रज्जुको नाश करनेवाले भव्यजीवोंको भक्तिपूर्वक सदाकाल चिंतवन करते रहना चाहिये। वे भावनाएं इस प्रकार हैं—

वचनगुप्तिका पालन करना, मनोगुप्तिका पालन करना, ईर्यासमितिका पालन करना, आदाननिक्षेपणसमितिका पालन करना और आलोकितपानभोजन अर्थात् दिनमें आहार पानी लेना ये पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएं हैं। गुप्ति समिति आदिको चिंतवनपूर्वक धारण करना भावनाएं कहलाती हैं।

क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, हास्यका त्याग और अनुवीचीभाषण (विचारपूर्वक शास्त्रानुकूल कहना अनुवीचिभाषण है) ये पांच सत्य महाव्रतकी भावनाएं हैं।

गुफा, कोटर आदि सूने स्थानमें रहना, दूसरेके छोडे हुए स्थानमें रहना, अपने ठहरनेके स्थानमें यदि कोई आता हो तो उसको नहीं रोकना, शास्त्रानुकूल आहारकी

शुद्धि रखना और ' यह तेरा है यह मेरा है '' इस प्रकार धर्मात्माओंके साथ विसंवाद नहीं करना ये पांच अचौर्य महाव्रतकी भावनाएं हैं।

स्त्रियोंकी रागरूप कथाओंका त्याग करना, स्त्रियोंके मनोहर अंग उपांगोंके देखनेका त्याग करना, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग करना, पौष्टिक भोजनोंका त्याग करना और अपने शरीरको सुसज्जित करनेका त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं।

पांचों इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषयोंमें रागका त्याग करना और पांचों इन्द्रियोंके अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेषका त्याग करना, परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाएं हैं। इस प्रकार ये पांचों व्रतोंकी पच्चीस भावनाएं हैं। इनके सिवाय हिंसादिक पांचों पाप इस लोकमें भी दुःख देनेवाले हैं और परलोकमें भी दुःख देनेवाले हैं इस प्रकार चिंतवन करना भी व्रतोंकी भावमाएं हैं। अथवा ये हिंसादिक पाप दुःखके कारण हैं, इसलिये दुःख स्वरूप ही हैं। ऐसा चिंतवन करना व्रतोंकी भावनाएं हैं। अथवा जीवमात्रमें मित्रताका भाव रखना, रत्नत्रयरूप गुणोंको धारण करनेवालोंको देखकर प्रसन्न होना, दुःखी जीवोंको देखकर करुणा धारण करना और अविनयी वा मिथ्यादृष्टि जीवोंमें माध्यस्थभाव रखना भी व्रतोंकी भावनाएं हैं।

अथवा जन्ममरणरूप संसारका चिंतवन करनेसे संवेग बढता है और शरीरके अपवित्रमय स्वभावका चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। इन सब भावनाओंके चिंतवन करनेसे महाव्रत स्थिर बने रहते हैं अथवा वह व्रती अपने व्रतोंसे चलायमान नहीं होता। इस प्रकार अत्यंत संक्षेपसे उत्तरगुणोंका निरूपण किया।

आगे ग्रंथका उपसंहार लिखते हैं।

मूलोत्तरगुणादीनां स्वरूपं योगिनामिति।
प्रोक्तं स्वानन्दतुष्टेन कुंथुसागरसूरिणा ॥४६॥

अर्थ—इस प्रकार अपने आत्मजन्य परमानंदमें संतुष्ट रहनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने यह मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुणोंका स्वरूप निरूपण किया है।

मूलगुणाः सदावश्यं पाल्याः स्वर्मोक्षदास्तथा।
भक्त्योत्तरगुणाश्चापि यथाशक्ति यतीश्वरैः ॥४७॥

अर्थ—मुनियोंको स्वर्ग मोक्ष देनेवाले मूलगुण तो सदाकाल अवश्य ही पालन करना चाहिये तथा उत्तरगुण अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक पालन करने चाहिये।

अथ प्रशस्तिः

आगे आचार्यवर्य अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

दीक्षागुरोर्धर्मदिवाकरस्य ।
विद्यागुरोरेव सुधर्ममूर्तेः ।
कृपाप्रसादाद्रचितो मयायं ।
ग्रंथः पवित्रो मुनिधर्मदीपः ॥ ४८ ॥

अर्थ— अत्यंत पवित्र ऐसा यह मुनिधर्मदीपक नामका ग्रंथ मुझ आचार्य श्रीकुंथुसागरस्वामीने अपने दीक्षागुरु धर्मदिवाकर आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराजकी कृपा और उनके प्रसादसे तथा विद्यागुरु धर्ममूर्ति आचार्य सुधर्मसागरजी महाराजकी कृपा और उनके प्रसादसे निर्माण किया है।

ग्रंथनिर्माणप्रयोजन.

सुखदे विद्यमानेऽपि मुनिधर्मप्रदर्शके ।
पूर्वाचार्योक्तग्रन्थे किं, ग्रन्थस्यास्य प्रयोजनम् ४९
सन्त्याचार्योक्तग्रन्थाश्च, बहुविस्तारपूर्वकाः ।
स्यात्तीव्रबुद्धिजीवानां, कृते तेषां प्रयोजनम् ॥५०

मन्दबुद्धिनृणां किंतु न स्यात्तेषां प्रयोजनम् ।
विचार्यैवञ्च ग्रन्थोऽयं, संक्षेपान्निर्मितो मुदा ५१
न किन्तु ख्यातिपूजार्थं, न स्वनामप्रसिद्धये ।
केवलं शिष्टपुष्ट्यर्थं, शिष्टानामिष्टमीदृशम् ॥५२॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके द्वारा निर्मित सुखद मुनिधर्म प्रदर्शक अनेक ग्रंथोंके होते हुए इस ग्रंथके निर्माणका क्या प्रयोजन है ? ऐसी शंका सहज होती है। पूर्वाचार्योंके द्वारा रचित अनेक ग्रंथ मौजूद हैं, परंतु वे अत्यंत विस्तृत हैं, जो तीव्र बुद्धिवाले हैं उन्हींको उनसे उपयोग हो सकता है। परंतु मंद बुद्धिवालोंको कोई प्रयोजन नहीं होता है। इसलिए मंदबुद्धिवालोंको प्रयोजन हो इस विचारसे संक्षेपसे इस ग्रंथकी रचना की गई है। वरना ख्याति पूजाके लिए अथवा अपने नामकी प्रसिद्धिके लिए इस ग्रंथकी रचना नहीं की गई है, केवल सज्जनोंके पोषणके लिए इसकी रचना की गई है । यही सज्जनोंका कर्तव्य है ।

भावार्थ—मुनिधर्मके विषयको वर्णन करनेवाले भगवती आराधना, मूलाचार, अनगारधर्मामृत, आदि अनेक ग्रंथोंको पूर्वाचार्य शिवकोटि, वट्टकेर, पं. आशाधर आदि

१ ग्रन्थानां

विद्वानोंने निर्माण किया है, जिनमें मुनियोंको आचरण करने योग्य मूलगुण उत्तरगुण महाव्रत आदि विषयोंको बहुत विस्तारपूर्वक व बारीकीसे वर्णन किया है। फिर इस मुनिधर्म-प्रदीप ग्रंथकी क्या आवश्यकता है? क्या प्रयोजन है? विना प्रयोजन ऐसे कार्यमें उपयोग लगाना उचित नहीं है इस प्रकारकी शंका शंकाकारके करनेपर ग्रंथकार पूज्य आचार्य कुंथुसागरजी महाराज उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि पूर्वाचार्योंके द्वारा निर्मित मुनिधर्मके प्रतिपादक भगवती आराधना मूलाचारादि बहुतसे ग्रंथ विद्यामान हैं। परंतु वे बहुत विस्तारसे युक्त हैं। उनको पढनेके लिये मनन करनेके लिए व उनसे आत्महित करनेके लिए तीव्रबुद्धिसे युक्त शिष्योंकी ही आवश्यकता है, जिनकी धारणा, मनन व अध्यवसाय सूक्ष्म व विस्तृत तत्वोंको ग्रहण करनेके लिए समर्थ है, वे ही उन ग्रंथोंके स्वाध्याय से लाभ उठा सकते हैं। परंतु मंदबुद्धिवालोंको उनसे विशेष प्रयोजन नहीं हो सकता है। इसलिये मंदबुद्धि-वाले भव्य, जिनका क्षयोशम मंद है, वे भी इस उत्कृष्ट मार्गका अवलंबन कर आत्मकल्याण कर सकें, इस हेतुसे संक्षेपसे इस मुनिधर्मका विवेचन किया है। अत एव उनको इसका प्रयोजन अवश्य होगा। इसके अलावा इस ग्रंथकी रचनामें हमारा दूसरा कुछ भी हेतु नहीं है। क्यों कि सर्वसंगके परित्याग करनेसे हमें न ख्यातिकी चाहना

है, और न कुछ लाभकी अभिलाषा है। दूसरोंकी पूजा भी हम नहीं चाहते हैं। और न नामकी प्रसिद्धि इस कामसे चाहते हैं। केवल सज्जनोंको आत्मकल्याणकी सामग्री उपस्थित होवें, उनका उद्धार हो, इस ध्येयसे यह कार्य किया है, यही सत्पुरुषोंका अनुदिनका कर्तव्य है।

आबालवृद्धादिविबोधनार्थं ।
न ख्यातिपूजादिकमानहेतोः ।
स्वानन्दभोक्त्रा वरसूरिणेति ।
श्रीकुंथुनाम्ना भवदुःखहर्त्रा ॥ ५३ ॥

अर्थ—अपने आत्मजन्य आनन्दका उपभोग करनेवाले और जन्ममरणरूप संसारके दुःख दूर करनेवाले आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरस्वामीने यह ग्रंथ न तो अपनी प्रसिद्धिके लिये बनाया है न अपना पूज्यपना दिखलानेके लिये बनाया है और न अपनी मान बढाईके लिये बनाया है किंतु बालकसे लेकर वृद्ध मुनियों तकको बोध उत्पन्न करानेके लिये ही बनाया है।

नापमानाय कस्यापि न सत्काराय केवलम् ।
मुनिधर्मप्रसिद्ध्यर्थं ग्रंथोऽयं रचितो मया ॥ ५४ ॥

अर्थ—मैंने यह ग्रंथ न तो किसीके अपमान करनेके

लिये बनाया है और न किसीके सत्कार करनेके लिये बनाया है। इस संसारमें सर्वत्र मुनिधर्मकी प्रसिद्धि हो और उससे भव्यजीव अपना कल्याण करें केवल इसी हेतुसे इस ग्रंथकी रचना की है।

सुषट्षष्ठ्यधिके शुद्धे चतुर्विंशतिके शते ।
वर्षे वीरप्रभोरेव सर्वेषां शांतिदायके ॥ ५५ ॥

भाद्रपदासिते पक्षेऽष्टम्यां सोमदिने शुभे ।
पार्श्वे कपडवंजस्य फुलवाडीपुरे वरे ॥ ५६ ॥

प्रजानां स्वमिव त्रातू राज्ये बृटिशभूपतेः ।
चातुर्मासे मुदा स्थित्वा सन्मुनेर्धर्मदर्शकः॥५७॥

ग्रंथोयं लिखितो भव्यः स्वर्मोक्षसुखदः सदा ।
श्रीमता स्वात्मनिष्ठेन कुंथुसागरसूरिणा ॥५८॥

स्तुतिस्तोत्रसमाकीर्णे ध्वजातोरणभूषिते ।
शान्तिदे भव्यजीवानां मुनिसुव्रतमन्दिरे ॥५९॥

अर्थ—सदा काल अपनी आत्मामें लीन रहनेवाले

और अनेक विभूतियोंसे विभूषित ऐसे मुझ आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरस्वामीने भगवान् श्री महावीरस्वामीके निर्वाण जानेके चौवीससौ छयासठवें वर्षमें प्रजाको अपनी आत्माके समान पालन करनेवाले बृटिश शासनके राज्यमें कपडवंजके समीप फुलवाडी वा जहेर नगरमें चातुर्मास योग धारण किया है। यहांका जिनालय सदाकाल अनेक स्तुति और स्तोत्रोंसे परिपूर्ण रहता है, ध्वजा, तोरण आदिसे सदाकाल सुशोभित रहता है और भव्यजीवोंको सदाकाल शांति प्रदान करता रहता है। ऐसे इस भगवान् मुनिसुव्रततीर्थंकर परमदेवके जिनालयमें विराजमान होकर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी सोमवारके शुभदिनमें यह ग्रंथ पूर्ण किया है। यह ग्रंथ मुनियोंके यथार्थ धर्मको निरूपण करनेवाला है, मुनिधर्मप्रदीपक इसका नाम है, समस्त जीवोंको शांति देनेवाला है, अत्यंत मनोहर है और स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है।

आचन्द्रतारकं जीयाज्जिनोयं मुनिसुव्रतः।
ग्रंथोप्ययं सदा जीयाद्भव्यानामुपकारकः ।९०।

अर्थ—इस संसारमें जबतक चन्द्रमा और तारे विद्यमान हैं तबतक ये भगवान् श्रीमुनिसुव्रतस्वामी जयशील

रहें। तथा अनेक भव्यजीवोंका उपकार करनेवाला यह ग्रंथ भी सदाकाल जयशील बना रहे।

मम संघे च तिष्ठन्ति तपस्वी नमिसागरः ।
आदिसागरयोगीन्द्रः साधुर्वाऽजितसागरः ॥६१॥

क्षुल्लको मल्लिसिंधुश्च वर्णी विद्याधरः सुधीः ।
जिनदासश्च विज्ञेयः सर्वे धर्मपरायणाः ॥६२॥

रत्नत्रयविशिष्टाश्च स्वात्मकल्याणकारकाः ।
जिनधर्माद्मयासार्द्धं शीघ्रं सिद्धिं प्रयान्तु ते ।६३।

अर्थ—मेरे इस संघमें महातपस्वी नमिसागर हैं, योगिराज आदिसागर हैं, साधु श्रीअजितसागर हैं, क्षुल्लक मल्लिसागर हैं । ब्रह्मचारी विद्याधर और जिनदास हैं। ये सब अपने धर्मको पालन करनेमें निपुण हैं, रत्नत्रयसे सुशोभित हैं और अपने आत्माका कल्याण करनेवाले हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि जिन-धर्मके प्रसादसे ये सब तपस्वी मेरे साथ शीघ्र ही सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हों।

ग्रंथं ह्यमुं ध्वान्तहरं क्षमादं ।
पठन्ति भव्याः खलु ये स्मरन्ति ।

ते एव सन्तः सुनरामरत्वं ।
लब्ध्वा लभन्ते सुखदं स्वराज्यम् ॥६४॥

अर्थ—यह ग्रंथ मिथ्यात्वरूपी अंधकारका दूर करने-वाला है और उत्तम क्षमा आदि अनेक आत्मगुणोंको प्रगट करनेवाला है। जो सज्जन भव्य पुरुष इसको पढते हैं वा स्मरण करते हैं वे इन्द्रादिक की विभूतियोंको पाकर तथा उत्तम मनुष्य होकर अनंत सुख देनेवाले मोक्ष-रूप स्वराज्यको अवश्य प्राप्त होते हैं।
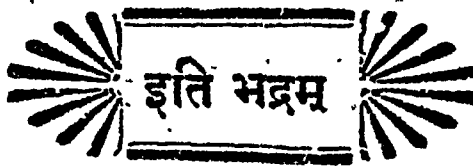
श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके स्थायिसदस्य

१ श्री दि. जैन मंदिर जहेर
२ श्री. दि. जैन मंदिर नरसीपुर
३ शा. हेमचंद पीतांबरदास नरसीपुर
४ से उगरचंद अमथालाल ,,
५ शा. हरजीवनदास नारायणजी जेहर
६ दामोदरदास बहेचरदास ,,
७ शा. शिवलाल हरगोविंददास नरसीपुर
८ परी शिवलाल फतेचंद जहेर
९ ब्र. प्यारीबाईजी हाथरस
१० शा. पुरुषोत्तमदास मगनलाल जहेर
११ शा. भीखालाल रायचंद ,,
१२ शा. फतेचंद दोलचंद ,,
१३ शा. मणिलाल केवलदास ,,
१४ परी अमीचंद देनकरण ,,
१५ परी हरचंद गोरधनदास ,,
१६ शा. नेमचद तलकचंद नरसीपुर
१७ शा. नेमचंद त्रिभुवनदास ,,
१८ शा. केशवलाल लल्लुभाई ,,
१९ शा. हरीलाल शांतिदास जहेर
२० शा. शिवलाल लल्लुभाई ,,
२१ शेठ नाकरचंद जगजीवनदास नरोडा
२२ शा. छोटालाल पीतांबरदास नरसीपुर
२३ शा. हरीलाल मगनलाल जहेर
२४ श्री. दि. जैनमंदिर दावोल
२५ शा. चिमनलाल भाईलाल मोडलाव
२६ शा. केवलदास रावजीभाई ईडर
२७ शा. हीरालाल फतेचंद सावली
२८ शा. कालीदास नानचंद ईडर
२९ सेठ अवीरचंद लखमीचंद कटनी
३० सेठ भोपजी शंभुरामजी मंदसौर
३१ शा. अंबालाल पीताम्बरदास नरसीपुर
३२ शा. मणीलाल जेसिंगभाई अहमदाबाद
३३ शा. फुलचंद ताराभाई पादरा
३४ चिमनलाल शिवलाल कलोल
३५ चुनीलाल नरोत्तमदास नरसीपुर
३६ रेवचंद रवचंद रखियाल
३७ गांधी उगरचंद फुलचंद ,,
३८ शा. रेवचंद खेमचंद ,,
३९ छगनलाल जेठाभाई पोशीना
४० सि. तोडरमल कन्हैयालाल कटनी
४१ शाह वाडीलाल जगजीवनदास (सुमनलाल वाडीलाल) कलोल
४२ भोगीलाल मगनलाल जाम्बुडी
४३ माणिकचंद गाईचंद ,,
४४ मगनलाल कोदरलाल बडोली